समर्पण—

जिनके चरणों में बैठकर मैंने कुछ सीखा और जो,
भारतीय भाषाओं के एकमात्र वैज्ञानिक आलोचक,
विद्याव्यसनी, साधुचरित और सरल हृदय हैं,

उन श्रद्धेय आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र,
[कृतकार्य अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय]
को सादर अर्पित

श्रद्धावनत
देवेन्द्रकुमार

* श्रद्धांजलि

तवि वयि केसव वड्ढु तुहुँ, अह वि तरुण हिययडेण ।
तुज्झ चित्तु धीरिम जलहि, णत्थि जहिं कित्तिफेण ॥ १ ॥

हे आचार्यवर्य केशवप्रसादजी, साधना और अवस्था में आप वृद्ध हैं, फिर भी हृदय से तरुण हैं। आप का चित्त धैर्य का समुद्र है पर इसमें कीर्ति का फेन नहीं है ॥ १ ॥

गुणहिं न सम्पइ कित्ति पर, सुनियइ लोय-पसिद्ध ।
कित्ति वि केसव ! तुज्झ गुण, किम तजहिं णिनिद्ध ॥ २ ॥

सुनते हैं कि लोक में गुणों से सम्पत्ति नहीं, कीर्ति मिलती है, पर हे आचार्यवर्य केशवप्रसादजी ! आप के गुण उस कीर्ति को भी क्यों तरज देते हैं ॥ २ ॥

भासावइ ! पडिहाहि तुहुँ, जेहु नाउ गुण तेहु ।
आहिरिहोहु रसि तुहुँ, धरहि असड्ढलु नेहु ॥ ३ ॥

हे भाषापति ! आप यथानाम तथागुण हैं क्योंकि आप आभीरीभाषा [अपभ्रंश] के लिए असाधारण स्नेह रखते हैं। केशव [कृष्ण] भी आभीरियों [गोपियों] के लिए असाधारण स्नेह रखते थे ॥ ३ ॥

रहवर ! अप्पइ सभलु तुहु, विसया जासु न लग्ग ।
करणहिं सेवइ तिवग्ग, कटिरेवि करे मण वग्ग ॥ ४ ॥

हे रथिवर ! आप की आत्मा सफल है, क्योंकि उसको विषय नहीं लगते। वह, मन की लगाम हाथ में लेकर इन्द्रियों से, त्रिवर्ग [धर्म अर्थ काम] का सेवन करती है ॥ ४ ॥

अम्हहं एक्कइ आस, समरसि नंदउ वरिस सय ।
करउ सुभग्ग-पयास, अग्गिउ गुरुवर सद्ध तउ ॥ ५ ॥

हमारी एक ही आशा है कि आप सौ वर्ष समरस में आनंद करते रहें। हे गुरुवर ! आगे भी आप की श्रद्धा हमारा मार्ग प्रशस्त करे ॥ ५ ॥

---

* हिन्दीविभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी द्वारा आयोजित आचार्य जी के अभिनंदन समारोह के अवसर पर पठित ।

'धणु तणु समु मज्झु ण तं गहणु
णेह निकारिणु इच्छमि'

धन तृणवत् है, मै उसे ग्रहण नही करता मैं तो अकारण स्नेह का भूखा हू।

आचार्य पुष्पदत

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वहि
जसु कारणि तोडेहि तुहु सो सिउ एत्थि चढाहिं

हे जोगी पत्ती मत तोड और फलों पर भी हाथ मत बढा, जिसके लिए तूं इन्हें तोड़ता है, उसी शिव को यहा चढ़ा दे।

कासु समाहि करउ को अचउ
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउ
हल सहि कलह केण सम्माणउं
जहि जहि जोवउ तहि अप्पाणउ

किसकी समाधि करू। किसे पूजू। छूत अछूत कहकर किसे छोड़ दू। भला किससे कलह ठानूं जहा देखता हू वहीं अपने समान आत्मा दिखाई देती है।

हउं गोरउ हउं सामलउ हउ वि विभिण्णउ वण्णि
हउ तणु अंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मण्णि

मैं गोरा हू, मै सावला हू, मैं विभिन्न वर्ण का हूँ। मैं दुबला हू, मैं मोटा हूँ—हे जीव ऐसा मत मान।

मुनि रामसिह

यही सोचकर साहित्याचार्य, साहित्यरत्न चि. देवेन्द्रकुमार जी एम० ए० ने प्रस्तुत पुस्तक लिखी है। ये हिन्दी, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और दूसरी लोक भाषाओं के गहरे अभ्यासी हैं। इनकी भाषा मजी हुई और प्रांजल है। आप तर्कणाशील और विचारक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी इस योग्यता के पद-पद पर दर्शन होते हैं। उन्होंने इसमें न केवल अपभ्रंश भाषा का व्याकरण निबद्ध किया है अपितु हिन्दी का विकास उसके आधार से कैसे हुआ है यह भी भली भांति दिखाने का उपक्रम किया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि काशी विश्वविद्यालय के हिन्दीविभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष आचार्य केशवप्रसाद जी मिश्र का पौर्वात्य और पाश्चात्य भाषाविज्ञान का गहरा अध्ययन है। इस समय उनकी जोड़ का इस विषय का, हिन्दीप्रदेश में दूसरा विद्वान् उपलब्ध होना दुर्लभ है। चि. देवेन्द्रकुमार जी उनके अन्यतम पट्ट शिष्य हैं, इस लिये प्रस्तुत पुस्तक की कीमत और भी अधिक बढ़ जाती है। इसके निर्माण में उनके अनुभव से भी पूरा-पूरा लाभ उठाया गया है।

ऐसी उपयोगी पुस्तक को प्रकाश में लाना लाभप्रद समझ कर ही हम श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला की ओर से इसे प्रकाशित कर रहे हैं। हमारा विश्वास है कि विद्वत्समाज और शिक्षासंस्थाओं में इसका समुचित आदर होगा।

वीरशासन जयन्ती
श्रावण कृष्णा प्रतिपदा
वीर सं० २४७६

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
संयुक्त मंत्री
श्री गणेशप्रसाद वर्णी
जैनग्रन्थमाला बनारस

दी, इतना ही नहीं आपने कई प्रसंगों का अर्थ लगाने मे अपना मूल्यवान् समय भी दिया, आपके इस सौजन्य से मैं केवल आभार मानकर नहीं उत्तर सकता। श्रद्धेय आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी ने कार्यव्यस्त रहते हुए भी यथाशीघ्र प्राक्कथन लिखने की कृपा की और श्रद्धेय डाक्टर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी अध्यक्ष हिन्दी विभाग तथा डाक्टर जगन्नाथप्रसाद जी शर्मा प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय ने अपनी बहुमूल्य और उदार सम्मति देकर मेरा जो उत्साह बढाया है उसके लिए उन्हें मैं क्या कहूँ, वे मेरे गुरुजन ही हैं। उनके आशीर्वाद का तो मैं अधिकारी ही हूँ। श्रीमान् प्रो० दलसुख जी मालवणिया का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हू, आपने न केवल पार्श्वनाथविद्याश्रम की लाइब्रेरी का मुझे यथेष्ट उपयोग करने दिया प्रत्युत बहुमूल्य पुस्तकें तत्काल मंगवा दीं, भाई गुलाबचंद जी चौधरी एम. ए. व्याकरणाचार्य, रिसर्च स्कालर और प० अमृतलाल जी दर्शनाचार्य ने इस काम में मेरी जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका आभारी हू। ललित प्रेस के व्यवस्थापक श्री एन्. जी. ललित का भी आभार मानना प्रसगप्राप्त है क्योंकि उन्होंने सब काम समय पर पूरा किया। शीघ्रता और अनुभवहीनता के कारण जो भूलें रह गई हैं, उनके लिए मैं क्षमाप्रर्थी हूँ। अत मे श्रद्धेय आचार्य जगन्नाथप्रसाद जी के शब्दों की छाया में मुझे विश्वास है कि यह लघु प्रकाश अपभ्र श भाषा और काव्य के दुरूहपथ को आलोकित करने में समर्थ होगा।

देवेन्द्रकुमार

प्राक्कथन

'अपभ्रंश' का पहले तो पर्याप्त वाङ्मय ही नहीं मिलता था, इधर कुछ वाङ्मय, विशेषतया जैन-पुस्तक-भाडारों से, प्राप्त हुआ है। भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से प्राप्त सामग्री का अनुशीलन आवश्यक है तथा अन्य नूतन सामग्री की उपलब्धि में प्रयत्नशील होने की अपेक्षा है। जैन-ग्रँथ-भाडागारों से प्राप्त सामग्री और ग्रंथों की नामावली तथा उससे अवतरित अंशों के देखने से यह स्पष्ट होने लगा है कि प्राकृत वैयाकरणों की शौरसेनी, पैशाची, अर्धमागधी आदि प्राकृतों से हिंदी की उपभाषाओं व्रज, खड़ी और अवधी तक आने में बीच की कड़ी, इस अपभ्रंश के देश-सबद्ध विविध स्वरूपों में मिल जाती है। व्रज, खड़ी और अवधी में जो स्थूल स्वरूप-भेद दिखाई देता है वह संस्कृत 'घोटक' के तद्भव रूपों से बहुत स्पष्ट है—घोड़ो (व्रज), घोड़ा (खड़ी) और घोड़ (अवधी)। अर्धमागधी प्राकृत से अर्धमागधी अपभ्रंश और फिर अर्धमागधी देशी भाषा या अवधी का विकास हुआ। जैन अपभ्रंश अर्धमागधी-अपभ्रंश के रूप में अधिक मिलता है। जैनों ने अपनी आदिभाषा 'अर्धमागधी' ही मानी है। जैन ग्रंथों में से अधिक के नाम 'रास' शब्द अंत में जोड़कर बनाए गए हैं। इसका अर्थ 'काव्य' लिया गया है, जैसे नेमिनाथ-रास आदि। इसका तत्सम शब्द आकार में ठीक 'घोटक' की भाँति है—रासक। पूर्वोक्त क्रम

से इसके भी तीन रूप होते हैं—रासो (ब्रज), रासा (खड़ी) और रास (अवधी)। हिंदी के 'रासो' शब्द को इसी रासक से व्युत्पन्न समझना चाहिए—रसायण, रहस्य, राजसूय, राजयश आदि से नहीं। इसका विस्तृत विवेचन मैं बहुत पहले ही कर चुका हूँ, यहाँ उसका संग्रह-सकलन अनावश्यक है। 'रासो-रासा' पश्चिमी क्षेत्र के हैं और 'रास' पूर्वी क्षेत्र का। तीनों को स्थूल रूप में देशों के नाम से कहें तो ब्रज या शूरसेन, पचनद और कोसल या अवध से संबद्ध करना होगा। 'ब्रज' या शौरसेनी या पश्चिमी अपभ्रंश के कई नाम हैं। 'नागर' तो उसका नाम है ही, एक नाम 'पिंगल' भी है। राजस्थानी या डिंगल से पिंगल की भिन्नता राजस्थान में क्या, हिंदी-साहित्य के इतिहासों तक में प्रसिद्ध है। पिंगल ब्रजभाषा या सर्वसामान्य काव्यभाषा मानी जाती है और डिंगल प्रांतीय भाषा या या मातृभाषा। 'पिंगल' की रचना में वहाँ के कवियों ने प्राचीन काल से नियम बना रखा है कि प्रत्येक पद्य में 'वैण-सगाई' नामक अलंकार-योजना अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। यदि डिंगल की रचना में 'वैण-सगाई' प्रत्येक पद्य में न मिले तो समझ लेना चाहिए कि पाठ ठीक नहीं। 'वैण-सगाई' क्या है? इसे राजस्थान के प्रसिद्ध काव्यमर्मज्ञ स्वर्गीय अर्जुनदास जी केडिया के शब्दों में लीजिए—"राजपूताने के बारहट कवियों में पिंगल की भाँति 'डिंगल' छंद-शास्त्र का भी प्रचार है। पद्य के प्रत्येक चरण का प्रथम शब्द जिस अक्षर के आदि का हो, उसी अक्षर के आदि का कम से कम एक और शब्द उसी चरण में रखने

का नियम इसमें अनिवार्य है। इससे अनुप्रास का चमत्कार होता है। इसका नाम 'वैण-सगाई' प्रसिद्ध है।'

यहाँ से एक उदाहरण लीजिए—

आवै वस्तु अनेक, हद नाणो गाँठे हुवै।
अकल न आवै एक, कोड रुपैय 'किसनिया'॥

बारहठ कवियों को यह वैण-सगाई इतनी प्रिय थी कि परवर्ती काल में कुछ ने अपनी पिंगल की रचना में भी बहुधा इस नियम के पालन का प्रयास किया है। सूर्यमल्ल जी ने प्राय: ऐसा किया है। अस्तु, जहाँ अनिवार्य रूप से वैण-सगाई मिले वह डिंगल की रचना होगी। ऐसा हो सकता है कि कोई रचना 'वैण-सगाई' से पूर्णतया अलंकृत हो फिर भी वह डिंगल की रचना न हो, पिंगल की रचना हो। पर जिसमें इसका अनिवार्य पालन न हो, कम से कम वह रचना 'डिंगल' की तो न होगी। पर इधर जनपद-भाषा का आन्दोलन प्रबल होने से और अभेद से भेद की ओर जाने से 'अलगौझे' की दूषित प्रवृत्ति जगी। परिणाम यह हुआ कि राजस्थान के रासान्तक 'रासो-ग्रंथों' को डिंगल की रचना मानने और कहने लगे, यद्यपि इनमें डिंगल की उक्त अनिवार्य अलंकार-योजना का विधान नहीं है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है—'पिंगल' सर्वसामान्य काव्यभाषा का नाम था, अपनी मातृभाषा का नाम 'डिंगल' चारणों ने रखा। यहाँ 'डिंगल' नाम की व्युत्पत्ति में उलझना अप्रासंगिक है। केवल 'पिंगल' पर ही विचार करना ठीक होगा। छंद-शास्त्र के आदि आचार्य 'पिंगल' नाम के

ऋषि माने जाते हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में उनके छंदों का सोदाहरण विस्तृत विवेचन है। इसी से छंद-शास्त्र का नाम देशी भाषा में 'पिंगल' पड़ गया। छंद-शास्त्र कठिन है, उसमें बड़ा विस्तार—प्रस्तार, मेरु-मर्कटी, नष्ट-उद्दिष्ट का बखेड़ा होता है। अतः जो किसी कार्य के करने में बखेड़ा, विस्तार, उलझाव आदि उत्पन्न करने लगता है उसके लिए हिंदी का मुहावरा 'पिंगल पढ़ना' काम में लाया जाता है। ये 'पिंगल' शेषनाग के अवतार माने जाते हैं अतः 'पिंगल' भाषा का दूसरा नाम 'नाग भाषा' है, जिसकी चर्चा भिखारीदास ने अपने 'काव्यनिर्णय' में की है। 'नाग भाषा' का संबंध 'नाग जाति' से है या नहीं इसका विस्तृत विवेचन पूरे प्रबंध का मैदान चाहता है। अतः उसे भविष्य के लिए छोड़ देना पड़ता है।

ये सब नाम अर्थात् नागर, पिंगल, नाग अपभ्रंश भाषा के पर्यायवाची हैं। 'नागर' से हिंदी भाषा का नाम 'नागरी' पड़ा। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये पश्चिमी अपभ्रंश के नाम हैं। 'नागर' शब्द को 'नागर' (गुजरात) जाति से जोड़ा जाय या उसका अर्थ परिष्कृत या संस्कृत किया जाय, यह पृथक् समस्या है। 'नागर' जाति से जोड़ने पर भी उसकी एक विशेषता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। वह यह कि इसमें परिष्कार और साथ ही संस्कृत का मेल अधिक है। प्राकृत वैयाकरणों ने शौरसेनी प्राकृत के लिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' का जो उल्लेख किया है उसका चाहे लोग जो अर्थ लगाएँ यह तो स्पष्ट ही है कि साहित्यारूढ़ होने पर शौरसेनी प्राकृत संस्कृत शब्दों का आकलन अधिक करती रही है यही विशेषता शौरसेनी अपभ्रंश या

नागर अपभ्रंश की है। इसके विपरीत अर्धमागधी प्राकृत और अर्ध-मागधी अपभ्रंश में प्राकृत—जन-प्रचलित—शब्दों की, ठेठ शब्दों की प्रवृत्ति अधिक थी। यह परंपरा पूर्णतया सुरक्षित है। जैनों के अर्धमागधी अपभ्रंश या अवधी भाषा में ठेठ का ग्रहण अधिक है। जायसी आदि हिंदी कवियों ने अवधी का जो रूप रखा है उसका कारण केवल यही नहीं कि उन्होंने जनता की भाषा ज्यों की त्यों ले ली, प्रत्युत यह भी है कि उसकी प्रकृति प्राकृत या जन-प्रचलित या तद्भव या ठेठ शब्दों की ही है। तुलसीदासजी ने संस्कृत का, शौरसेनी या व्रज का मेल करके उसे सर्वसामान्य व्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा किया। फल यह हुआ कि आगे की भाषा व्रज और अवधी से मिलकर एक मिली-जुली भाषा हो गई जिस खिचड़ी भाषा का व्यवहार हिंदी के रीतिकाल या शृंगारकाल के अधिकतर कवियों ने किया।

पश्चिमी अपभ्रंश तो नागर हो गया, पर पूर्वी अपभ्रंश ग्राम्य ही बना रहा, उसकी प्रवृत्ति ही वैसी थी। विद्यापति ठाकुर ने कीर्तिलता में जिस प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है उसमें पश्चिमी प्रवृत्ति आई तो है पर पूर्वी अर्थात् ठेठ प्रवृत्ति बराबर मिलती है। अपभ्रंश का वाङ्मय अधिक सामने आने पर इसका विस्तृत विवेचन करने का अवसर अधिकाधिक मिलता जाएगा।

अपभ्रंश का पूरा समय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। उसका एक तो पूर्वकालिक रूप है और दूसरा उत्तरकालिक। पूर्वकालिक

अपभ्रंश में सर्वसामान्य प्रवृत्तियाँ ही अधिक दिखाई देती हैं, पर उत्तर-कालिक अपभ्रंश में प्रांतीय रूपों का अधिकाधिक ग्रहण होने लगा। अर्थात् प्रांतीय प्रवृत्ति स्फुट होने पर वह देशी भाषाओं के अधिक निकट आ गया। विद्यापति ने अपनी 'कीर्तिलता' में जिस भाषा का व्यवहार किया है वह प्रांतीय या पूर्वी रूप लिए हुए है। कुछ विद्वान् अपभ्रंश के इस उत्तरकालिक रूप को 'अवहट्ट' कहने के पक्ष में हैं अर्थात् उनके मत से अपभ्रंश और देशी भाषा के बीच एक सोपान 'अवहट्ट' का है। इसमें संदेह नहीं कि देशी भाषाओं का उदय होने के पूर्व अपभ्रंश का ऐसा रूप अवश्य आया होगा जो उनके निकट था, अतः पुराने या पूर्वकालिक अपभ्रंश को अपभ्रंश और उत्तरकालिक को 'अवहट्ट' कहा जाय तो कोई हानि नहीं। पूर्वकालिक अपभ्रंश के लिए यह नाम कहीं प्रयुक्त मिला भी नहीं है पर उत्तरकालिक अपभ्रंश के लिए यह नाम आया है। 'प्राकृतपैंगलम्' की टीका में इस नाम का व्यवहार बार-बार हुआ है। यह 'अवहट्ट' (तत्सम 'अपभ्रष्ट') देशी भाषा के निकट है या यों कहिए कि देशी भाषा की मिलावट से साहित्यारूढ पारंपरिक अपभ्रंश ही 'अवहट्ट' है। विद्यापति ने 'अवहट्ट' को मीठी देशी भाषा के निकट लाने का प्रयास किया है। उन्होंने जो यह लिखा है कि

सक्कइ वानी बहुअ न भावइ,
पाउअ रस को मम्म न जानइ।

देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
तें तैसन जपओ अवहट्ठा।

इसमें 'तैसन' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। 'देसिल बअना' और 'अवहट्ठा' को एक ही मानने के लिए 'तैसन' का अर्थ 'वही' किया जाता है, पर 'तैसन' का प्रचलित और स्पष्ट अर्थ 'वैसा ही' है। साहित्यारूढ अपभ्रंश देशी भाषा से दूर हो गया था, विद्यापति ने उसे देशी भाषा के मीठेपन से युक्त किया। खरा अपभ्रंश तो पश्चिमी या नागर था, पर इन्होंने उसमें देशी वचन की मिठाई, जनता की बोली या ठेठ रूप मिलाकर उसे दूसरा रूप देकर सामने रखा। यह इस लिए भी विचारणीय है कि उनके समय में अपभ्रंश या अवहट्ट बोल-चाल में नहीं था। बोल-चाल की भाषा में तो उन्होंने पृथक् ही रचना की है। उनके गीतों और कीर्तिलता की भाषा में स्पष्ट अंतर है—भारी अंतर है। एक पारंपरिक साहित्यिक भाषा है जिसमें साहित्य लिखने का बहुत दिनों से प्रचलन था। दूसरी जनभाषा है, जिसमें जनता के घरेलू गीत तो रहे होंगे पर साहित्य नहीं था। विद्यापति ने देशी भाषा में साहित्य का प्रवेश कर दिया। जनता के घरेलू सुख-दुख की बातों के स्थान पर देशी भाषा में साहित्य के देवता राधाकृष्ण को स्थापित कर दिया और उत्तरवर्ती हिंदी-साहित्य के लिए बहुत बड़ा मार्ग खोल गए।

प्रस्तुत पुस्तक में अपभ्रंश-अवहट्ट-संबंधी ऐतिहासिक विवरण और उसका व्याकरण, कोश आदि सभी संक्षेप में संगृहीत है। जैन होने

के कारण लेखक को जैन अपभ्रंश के अनेक ग्रंथों के आलोडन-मनन-चिंतन का अवसर सहज प्राप्त रहा है। इसी से उसने प्रामाणिक और व्यवस्थित विचार रखे हैं। पुस्तक अच्छी है और जिज्ञासुओं को अपभ्रंश समझने में पर्याप्त सहायता करेगी ऐसा विश्वास है।

वाणी-वितान
ब्रह्मनाल, काशी।
गुरु पूर्णिमा, २००७

विश्वनाथप्रसाद मिश्र,
(प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय)

विषय सूची

क्रमाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क

क्रमाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क

क्रमाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क

आर्यभाषा की परम्परा

आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बहुत मतभेद है। आर्य चाहे बाहर से आए हो और चाहें यहीं के निवासी रहे हो, उनकी सभ्यता का प्रथम प्रसार उत्तर पच्छिम प्रदेश मे ही हुआ वही से वे विविध भारतीय जनपदो मे फैले। आर्य सभ्यता के शैशवकाल मे समूचे भारत मे दो संस्कृतियां फैली हुई थी, उत्तर पच्छिम और पच्छिम प्रदेश मे द्रविड लोग थे जिनकी सभ्यता नागरिक सभ्यता थी, मध्यदेश और पूर्वी भारत मे आग्नेय लोग थे—इनकी संस्कृति ग्राम्य या जनपद संस्कृति थी। आर्यों का प्रथम निवास उदीच्य मे था, वे अनेक दलो मे विभाजित थे और उनकी अपनी भाषा थी जिसमे वे प्रार्थना और गीत रचते, ऋग्वेद इसी भाषा मे है, इसे भारतीय आर्यभाषा का सबसे प्राचीनतम रूप कहा जा सकता है। आर्यो के प्रथम उपनिवेश के बाद—पंजाब से परसिया तक भाषागत एकता अवश्य रही होगी। आरम्भ मे र और ल के आधार पर प्राचीन आर्यभाषा से कई विभाषाएं बनीं। पच्छिमी भाषाओ मे ल नही था, 'र' था, और पूर्वी भाषाओ मे ल ही का उपयोग होता था, बाद मे यह प्रवृत्ति उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तक आई। आर्यों के द्वितीय उत्थान काल मे यह पूर्वी प्राकृत कहलाई। वैदिक आर्यो के अतिरिक्त, अनार्य हाथों ने भी कुछ ऋचाओ का निर्माण किया, अभी तक सारा साहित्य कंठस्थ ही

किया जाता था, महाभारत युद्ध के पूर्व वेदव्यास ने उसका विभाजन किया, डाक्टर सुनीत कुमार चटर्जी के अनुसार १००० वर्ष ईसा पूर्व वेद पूर्णता को पहुँच गए।

आर्यों की भाषा वदल रही थी, निरन्तर प्रगति, अनार्यों द्वारा आर्यभाषा का अभ्यास, आर्य अनार्य मिश्रण और बोलचाल की भाषा का स्वाभाविक विकास, इस परिवर्तन के मुख्य कारण थे। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय आर्यो का विस्तार विदेह तक हो चुका था, १००० से ६०० वर्ष ईसा पूर्व का यह समय, ब्राह्मण रचनाकाल कहा जाता है, इसमे आर्य भाषा मे अनेक परिवर्तन हुए। वैदिक भाषा लिखितसाहित्य का माध्यम वन जाने से रूढ हो रही थी, और वोलचाल की भाषा के इस समय तीन रूप थे (१) उदीच्य (Northwestern) (२) मध्यदेशी (Mid land) (३) और प्राच्य (Eastern) इस प्रकार अफगानिस्तान से वगाल तक आर्यभाषा का प्रचार क्षेत्र समझना चाहिए, उदीच्य भाषा के स्वरूप का प्रतिनिधित्व आधुनिक उत्तर पश्चिम सीमात और उत्तरी पंजाव की भाषाए करती है। कौशीतिकी ब्राह्मण मे अकित है कि लोग उदीच्यो के पास भाषा सीखने जाते थे, प्राच्य (पूर्व) मे व्रात्यों की अपनी भाषा थी, आर्यो के सयुक्त वर्ण और अन्य ध्वनिया उनके लिए क्लिष्ट जान पडती थी, मध्यदेश की भाषा इन दोनो के वीच मे थी, भाष्य मे एक ब्राह्मण कहानी का उल्लेख है कि किस प्रकार असुर लोग अरय क्य अलय उच्चारण करके पराजित हुए [तेऽसुरा हेलय हेलय इति कुर्वन्त परावभूवु] प्राच्य प्राकृत मे व्यञ्जन लोप, र को ल और र के परवर्ती दन्त्य को मूर्धन्य करने की प्रवृत्ति थी जैसे [कृत=कट, अर्थ =अठ]। आर्यों के प्रभाव के कारण अनार्य भाषाएं आर्यभाषा

के आसपास केन्द्रित होने लगी, महावीर और बुद्ध के समय उदीच्य की भाषा वैदिक साहित्यिक भाषा के अतिनिकट थी जब की प्राच्य की भाषा में काफी अन्तर पड गया था, छन्दस् भाषा (वैदिक भाषा) का अध्ययन ब्राह्मणों द्वारा साहित्यिकभाषा के रूप में जारी था। प्राच्य और उदीच्य के मेल से मध्यदेशीय भाषा का उदय हुआ, जो ऋचाओं की व्याख्या के लिए स्वीकृत गद्य की भाषा थी, प्राच्य भाषा-भाषी के लिए छन्दस् और ब्राह्मणग्रन्थ की भाषा कठिन जान पड़ती थी, और इसी प्रकार उदीच्य लोग प्राच्य की भाषा को क्लिष्ट समझते थे, इस असुविधा को दूर करने के लिए—भगवान बुद्ध के दो शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद वैदिक भाषा में करने की अनुमति मांगी पर उन्होंने उसको स्वीकृत नहीं की, महावीर और बुद्ध ने बोल चाल की भाषा में ही अपने उपदेश किए। इससे बोलचाल की भाषाओं की खूब उन्नति हुई, और वे भी साहित्य प्रणयन के लिए स्वीकृत हुईं, एक प्रकार से छंदस् और संस्कृत के विरुद्ध आन्दोलन चल पड़ा क्योंकि ये वैदिक भाषा पर अवलम्बित थीं. इस प्रकार विचारसंघर्ष ने भाषा संघर्ष को जन्म दिया. दूसरे उपनिषद भी उच्च और शिक्षित वर्ग के लोगों के लिए थीं। ब्राह्मणों की भाषा पर प्राकृत प्रभाव बड़ी तेजी से पड़ रहा था. ठीक इसी समय पाणिनि नाम के वैयाकरण शालातुर में से उत्पन्न हुए, इस प्रदेशमें छंदस् भाषा की एक विभाषा प्रचलित थी ब्राह्मण ग्रन्थ की भाषा का मुख्य केन्द्र गंगा जमना का द्वाब और कुरुक्षेत्र पूर्वी पंजाब था यही वह मध्य देश था जिसकी भाषा विकृत नहीं हुई थी. इस प्रकार वेदों की गद्यभाषा और ब्राह्मण ग्रन्थ के आधार पर तत्कालीन विभाषाओं का विचार करके पाणिनि ने संशोधित साहित्यिक भाषा गढ़ी. यह पांचवीं ई०पू० की बात है. पाणिनि ने केवल उसका रूप ही स्थिर किया,

उनके दो सौ वर्ष पूर्व इसका उद्गम हो चुका था। यह भाषा विश्व सभ्यता और संस्कृति की बहुत बड़ी भाषा सिद्ध हुई, आरंभ में जैन और बौद्धों ने इसका विरोध किया, पर बाद में उन्होंने भी इसे अपना लिया, आर्य लोग इसे उत्तर-पश्चिम में अफगानिस्तान मध्य एशिया तिब्बत, और चीन, वहाँ से कोरिया और जापान तक, तथा दक्खिन में लंका बर्मा और हिन्द चीन लेगए। संस्कृत वस्तुतः किसी प्रदेश की भाषा नहीं थी केवल ई०पू० सदियों में पंजाब और मध्यदेश की विभाषाओं ने उसे नामरूप दिया था, फिर भी यह पूर्ण जीवित भाषा रही, संस्कृत समन्वय की भाषा थी उसके माध्यम से अनार्य आख्यान कथाएं और तत्त्वज्ञान को आर्यरंग में रंग दिया गया। समन्वय की आकांक्षा अनार्यों की बहुभाषिता और आर्यों की राजनैतिक प्रबलता और दोनों की ऊंची बौद्धिक उड़ानों ने उसे उत्तरापथ की भाषा बना दिया। आर्य सभ्यता का दक्खिन में प्रवेश अगस्त्य ऋषि ने कराया। संस्कृत ने एक प्रकार से मध्यम मार्ग ग्रहण किया, प्राचीन रूपों की सुरक्षा और मध्य आर्य भाषाओं के शब्दों और रूपों को लेकर वह आगे बढ़ी, तीन हजार वर्षों तक यह सभ्य संसार के आदान प्रदान और उच्च तत्त्वचिंतन का माध्यम बनी रही, एक समय था जब वैदिक बौद्ध और जैन तत्त्व चिंतन का एकमात्र माध्यम संस्कृत थी। ध्वनि और शब्दरूपों का उसने बड़ा ध्यान रखा, व्यवहार में पुराने वैदिक शब्द छोड़ दिए गए, पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में संस्कृत के अतिरिक्त अनेक विभाषाओं का उल्लेख किया* है, प्राचा से उनका अभिप्राय पूर्व और उदीच्या से उत्तर था। उन्होंने सामान्यभाषा के नियम लिखकर विशेष भाषाओं के भी नियमों का जगह-जगह उल्लेख

* "जराया जरसन्यतरस्याम्" (भाषाया)। "भाषाया सदवसुश्रुवः"

किया है, संस्कृत शब्द का प्रयोग उन्होने पकाने के अर्थ में किया है, भाषा के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग उन्होंने नही किया, छंदस् से उनका अभिप्राय वैदिक भाषा से था, अपनी भाषा को उन्होने भाषा कहा है, पाणिनि द्वारा भाषा का आदर्श स्थापित कर देने पर भी उसका स्वरूप स्थिर नही रह सका और स्वयं पाणिनि जैसे ससार के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण भी भाषा का स्वरूप नही बाँध सके उन्हे भी 'पृषोदरादिषु यथोपदिष्टम्' कहकर आकृति-गण का सहारा लेना पड़ा। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्राह्मण-गद्य मे मुहावरो और क्रिया की बहुलता थी। आगे कृदन्त रूपो का प्रयोग होने लगा, इसके अतिरिक्त भाषा-लेखक जब संस्कृत मे लिखते तो भाषापन भी उसमे पहुँचा देते, जैन सस्कृत के अध्ययन से इसपर काफी प्रकाश पड़ता है, यह तो हुई प्राचीन आर्य भाषा की चर्चा, जिसमे कि वैदिक और लौकिक संस्कृत की गणना की जाती है।

मध्य आर्यभाषा मे पाली प्राकृत और अपभ्रंश की गणना होती है, इसके तीन भाग किए जा सकते है, आदि—मध्यकाल मे पाली और अशोक की प्राकृत, मध्य मे जैन प्राकृते महाराष्ट्री और साहित्यिक प्राकृते और अंतिमकाल मे अपभ्रंश। बुद्ध के कुछ समय पूर्व मध्य आर्य भाषा की स्थिति स्थापित हो चुकी थी, उदीच्य की भाषा से इनमे सबसे पहले ध्वनिसम्बन्धी भेद ही लक्षित होता है र को ल मूर्धन्यभाव और सावर्ण्यभाव (Assimilaton) की प्रवृत्ति इसी भेद को सूचित करती है, उत्तर-पच्छिम और मध्यदेश मे वैदिक ध्वनि समूह सुरक्षित था, पर रूप-विचार (Morphology) की दृष्टि से, वे भी परिवर्तित हो रही थी। 'कृतमस्ति' जैसे कृदन्त प्रयोग इसी परिवर्तन को

सूचित करते है। ध्वनि के सम्बन्ध मे उदीच्य की भाषाएँ सदैव कट्टर रही है, और यह बात उनके विषय मे आज भी सत्य है, पूर्व मे ध्वनिविकार शीघ्र हुआ, पर लहदा और पजाबी मे सयुक्त व्यञ्जन, उनके पूर्व ह्रस्व का दीर्घ उच्चारण और अनुनासिकत्व अभी भी मध्य आर्यभाषाकाल का है। मध्यकालीन प्राकृतो मे स्वरीभवन और आन्तरिक सम्पत्ति अधिक बढी, बलात्मक स्वरसचार का प्रश्न इसी से सम्बन्ध रखता है। डाक्टर चटर्जी की कल्पना है कि अघोष वर्णों का सघोष (क=ग) फिर सघोष का सघर्षी (ग=ग) और तब लोप हुआ। मध्य आर्यभाषा काल मे इस आधार पर प्राकृतो के आदि मध्य और अत ये तीन भेद किए जा सकते है। Aspirant का उच्चारण दो सदी ई० पू० से दो सदी ई० पश्चात रहा, ब्राह्मीवर्णमाला होने से लिखने मे यह भेद व्यक्त नही हुआ, साहित्यिक शौरसेनीप्राकृत और मागधी मे मध्यग क ख त और थ के स्थान मे ग घ द और ध करने की प्रवृत्ति थी, पर महाराष्ट्री प्राकृत मे मध्यग व्यञ्जनो का लोप होने लगा, यह शौरसेनी का ही उत्तर वर्ती विकास है। महाराष्ट्रप्रदेश की भाषा से उसका कोई सम्बन्ध नही। डाक्टर घोष के अनुसार महाराष्ट्रीप्राकृत, शौरसेनीप्राकृत का दक्खिनी विकसित रूप है। इसी प्रकार पाली वस्तुत मध्यदेश की भाषा थी इसे सिहली और मागधी भी कहते है, पाली मे कई बोलियो के उदाहरण है, यह उज्जैन से लेकर शूरसेन प्रदेश की भाषा थी, र के अस्तित्व से वह पछाही सिद्ध होती है न कि पूर्वी। अशोक के समय अशोकीप्राकृत राज्यभाषा बनी, पर थोडे समय बाद ही, उसका स्थान शौरसेनी प्राकृत ने ले लिया, महाराष्ट्री प्राकृत से इसका शैलीगत भेद है, कविता की भाषा सदैव यही प्राकृत रही।

भगवान् महवीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी मे किए, यह पूर्वी उत्तरप्रदेश और विहार की तत्कालीन लोक भाषा थी, बुद्ध और महावीर की प्रेरणा से वह साहित्य का माध्यम वनी, अशोकीप्राकृत के नाम से यही राजभाषा भी वनी, बुद्ध के प्रवचनो का संकलन पहले गाथा मे और वाद मे पाली मे हुआ जो मध्य देश की थी, वौद्धो के थेरीवादस्कूल के समय यही मुख्य भाषा थी। जैनो के अंगग्रथो मे अर्धमागधी का जो रूप है वह वादकी भाषा-स्थिति को सूचित करता है। खारवेल के शिलालेखो की भाषा मे पाली और अर्धमागधी के उत्तर-वर्ती विकास का मिलता-जुलता रूप है। यह कहा जा चुका है कि अशोक के समय मध्यदेशीय भाषाओ को स्थान नही दिया गया, पर उसके वाद शीघ्र ही शौरसेनी प्राकृत ने अपना सिक्का जमा लिया इसका मूल केन्द्र व्रजमंडल था, सस्कृत नाटको मे संस्कृत के वाद उसीका नम्वर आता है, महाराष्ट्री इसीके वाद का विकास है, एक तरह से उसे अपभ्रंश और शौरसेनी प्राकृत के वीच की कड़ी समझना चाहिए। मध्यदेश भारत का हृदय है, अपभ्रंश का प्रथम परिचय ३ सदी ई० से मिलने लगता है, पर वह साहित्यारूढ़ ६ वी सदी मे हो सकी। १२ वी तक उसका समृद्धि-युग रहा, इस काल मे भारतीय काव्य तीन धाराओ में प्रवाहित था। संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश। पर इस काल मे अपभ्रंश अधिक व्यापक और जीवित भाषा थी। संस्कृत और प्राकृतो की अपेक्षा लोकजीवन का उसमे अधिक मिश्रण था, इसलिए तत्कालीन सामाजिकजीवन को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य का आलोडन अत्यन्त आवश्यक है। अपभ्रंश के वाद की स्थिति अवहट्ट है, इस प्रकार भाषाविकास की

दृष्टि से अपभ्रंश भारतीय परिवार की आर्य ईरानी शाखा मे भारतीय आर्य परिवार की केन्द्रीय भाषा थी, आदिमध्ययुग के जातीय-जीवन भाषा और साहित्यक प्रवृत्तियो की ज्ञातव्य वस्तुओ का अक्षय कोष उसी के साहित्य मे हैं। यह मध्ययुगीन प्राकृतो की अंतिम कडी है, उसके बाद आधुनिक आर्यभाषाओ का विकास हुआ। नीचे अपभ्रंश के विषय मे विस्तृत विवेचन किया गया है।

अपभ्रंश शब्द

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख पतञ्जलि के भाष्य मे मिलता है। वह ईसा पूर्व दूसरी सदी मे पुष्यमित्र शुग के राजपुरोहित थे, वह लिखते हैं* शब्द थोडे हैं अपशब्द बहुत है, एक ही शब्द के अनेक अपभ्रंश है, उदाहरण के लिए एक ही गौ शब्द के 'गावी गौणी गोता गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश शब्द देखे जाते है। इस प्रकार भाष्यकार की दृष्टि मे छदस् और भाषा (संस्कृत) के शब्द ही साधु शब्द है शेष शब्द अपशब्द है। इसलिए अपभ्रंश का अर्थ हुआ लौकिक और वैदिक शब्दो से भिन्न शब्द। विभ्रष्ट (Corrupt) के अर्थ मे यह शब्द उन्हो ने ग्रहण नही किया। क्योकि ये शब्द तत्कालीन कई लोक भाषाओ मे प्रचलित थे। भाषा-विज्ञान के अनुसार 'गावी' किसी प्रकार गौ का विकार हो भी सकता है, पर 'गोपोतलिका' का 'गौ' से विकास कभी नहीं सिद्ध किया जा सकता। भाष्यकार के समय चारो ओर प्रकृतो का पूरा-पूरा प्रचार था, बगला मे गावी और सिधी मे गौणी शब्द अभी भी प्रचलित

* अल्पीयास शब्दा· भूयासोऽपशब्दा एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा। तद्यथा एकैस्य गोशब्दस्य गावीगौणीगोतागोपोतलिकाइत्येवमादया शब्दाः।

है। जैन आगम ग्रन्थो मे पतञ्जलि के अपशब्द प्रचुर मात्रा मे पाए जाते है, इसलिए उनके अपशब्द का अर्थ हुआ—संस्कृत से भिन्न, वे शब्द, जो अन्य लोक भाषाओ मे प्रचलित है, 'एकैक शब्दस्य वहवो अपभ्रंशाः' से भी यही ध्वनित होता है कि छंदस् और संस्कृत मे प्रयुक्त एक शब्द के ध्वनि विकार से अनेक शब्द नही बने किन्तु अनेक भाषाओ मे स्वतत्र प्रयुक्त होने वाले शब्द।

इसके बाद ईसा की तीसरी सदी मे अपभ्रंश शब्द स्वतंत्र भाषा के अर्थ मे व्यवहृत हुआ। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र मे संस्कृत के विकृत रूप को ही प्राकृत बताया है, उन्होने तीन प्रकार के शब्द स्वीकार किए है, तत्सम, तद्भव और देशी। उनका कथन है कि लोक के प्रयोग मे ऐसी अनेक जातिभाषाएँ आती है, जो म्लेच्छ शब्दो से मिलकर भारतवर्ष मे बोली जाती है, इसलिए नाटक मे संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत और देशीभाषा का भी यथेच्छ प्रयोग करना चाहिए। देवभाषा संस्कृत के अतिरिक्त भाषाएँ और देशी भाषाएँ भी है, भाषाएँ सात है* मागधी, आवन्ती, प्राच्या, अर्धमागधी, वाल्हीका और दाक्षिणात्या।† शवर, आभीर और द्रविण भाषा को उन्होने देशी कहा है। इनका उच्चारण हीन है, विभ्रष्ट से उनका अभिप्राय विभाषा से है, यहाँ हमे आभीरी भाषा से प्रयोजन है। भरत मुनि ने इसे उकारबहुला कहा है, और उन्होने जो उदाहरण दिया है वह भी इसकी पुष्टि करता है 'मोरिल्लउ नच्चंतउ'। यह

---

* "मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसैन्यर्धमागधी, वाह्लिका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता"।

† "त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः, समानशब्दै र्विभ्रष्टं देशी मथाऽपिवा"।

उकार वहुला प्रवृत्ति अपभ्रंश की है। हमे स्मरण रखना चाहिए कि प्राकृतो का साहित्य मे प्रयोग बुद्ध और महावीर के समय प्रारभ हो गया था, और पतञ्जलि के समय उनका पर्याप्त आदर साहित्यिक वाणी के रूप मे हो रहा था। प्राकृतो के वढ़ते हुए प्रभाव को देखकर भाष्यकार ने लिखा है कि यदि सस्कृत के प्रयोग मे कोई भाषाविषयक शका हो तो इस आर्य निवास मे रहनेवाले कुम्भीधान्य और अलोलुप ब्राह्मणो से उसका समाधान कर लेना चाहिए। आर्य-निवास से उनका प्रयोजन मध्यदेश से था। यहाँ सस्कृत ने नाम रूप ग्रहण किया था, भरत मुनि का समय पतञ्जलि से ५०० वर्ष वाद वैठता है, अत प्राकृतो का भाषा के नाते साहित्यरूढ होना और शवरी आभीरी आदि वोलियो का वोल-चाल का माध्यम वनना स्वाभाविक था, इन भाषाओ मे सस्कृत और प्राकृत के शब्द वहुलता से आते थे। इस प्रकार इस काल मे अपभ्रंश शब्द का प्रयोग विभाषा के रूप मे तो मिलता है, परन्तु उसकी साहित्यिकता का उल्लेख नही मिलता। आगे चलकर सस्कृत के विकृत शब्दो के अर्थ मे अपभ्रंश शब्द चल पडा—जैसे स्नेह का नेह सनेह इत्यादि। इस प्रकार अपभ्रंश के तीन अर्थ हुए (१) सस्कृत से भिन्न भाषाओ के शब्द (२) आभीरी भाषा (३) और सस्कृत से विकसित और विकृत शब्द।

विकास

अपभ्रंश के विकाश सूत्र के क्रम का पता दो प्रकार से चलता है, एक तो साहित्य-मीमासको की आलोचना से और दूसरे उसके उपलब्ध साहित्य से।

भरत मुनि के उल्लेख से भाषारूप मे अपभ्रंश का अस्तित्व प्रमाणित है। उसके साथ शवरी आदि भाषाओ का भी उल्लेख

है। परन्तु आभीरो के राजानीतिक अभ्युदय के कारण आभीरी ही देश भापा बन सकी।

भरत के वाद वलभी* के राजा धरसेन के शिलालेख से ज्ञात होता है कि छठवो सदो मे संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश में भी साहित्य रचना होने लगी थी, उसने इसका गर्व के साथ उल्लेख किया है। छठवीं सदी मे भामह† ने काव्य का लक्षण करके शैली और भापा के आधार पर उसका विभाजन किया है। 'शैली के अनुसार दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य भेद होगे और भापा के आधार पर सस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश काव्य'। इससे अपभ्रंश के स्वरूप पर खास प्रकाश नही पड़ता। इस दृष्टि से आचार्य दण्डी का कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है, वह अपने काव्यादर्श मे लिखते है कि काव्य‡ मे आभीरो आदि की भापा अपभ्रश कहलाती है, और शास्त्र मे संस्कृत से भिन्न समस्त भापाए अपभ्रश कही जाती है। काव्य से अभिप्राय यहाॅ नाटक से है, और शास्त्र का अर्थ है व्याकरण शास्त्र। आभीरो के साथ, आदिशब्द, गुर्जर आदि जातियो की ओर संकेत करने के लिए है। उन्होंने एक तरह से अपने कथन द्वारा पतञ्जलि और भरत मुनि के मतो का समाहार कर दिया। और साथ ही यह भी सूचित कर दिया कि भरत मुनि की आभीरी ही काव्य मे

---

* सस्कृत-प्राकृतापभ्रशभापात्रय प्रतिबद्धप्रबधरचनानिपुणान्तः करणाः।

† शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्य पद्य च तद्द्विधा सस्कृत प्राकृत चान्य-दपभ्रश इति त्रिधा।

‡ आभीरादि गिर' काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता। शास्त्रेषु सस्कृतादन्य दपभ्रशतयोदितम्।

अपभ्रश कहलाती है, जब हम व्याकरण शास्त्र की बात करते हैं तो अपभ्रश का अर्थ होगा संस्कृत से भिन्न भाषाएं। पतञ्जलि ने भी यही कहा था। पर काव्य के प्रसग मे आभीरी ही अपभ्रश कहलाती है, अपभ्रश उससे भिन्न भाषा नही है।

भाषाओ के आधार पर आचार्य दडी ने काव्य के तीन भेद किये थे, पर ६ वी सदी मे रुद्रट* ने अपने 'काव्यालकार' मे छ भेद किए है। प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच और शौरसेनी पांच भाषाकाव्य तो ये हुए, छठवा है अपभ्रंश काव्य। आगे वह कहता है कि देश † विशेष के कारण अपभ्र श के अनेक भेद है, इससे अपभ्रंश काव्य की प्रसार भूमि का आभास मिलता है। ११ वी सदी के मध्य मे नामिसाधु ने रुद्रट के काव्यालकार की टीका लिखते हुए प्राकृत शब्द का अर्थ लोक भाषा किया है।

प्राकृत वैयाकरणो ने चार प्राकृतो को मुख्य माना है महाराष्ट्री शौरसेनी मागधी और पैशाची।

अपभ्रंश के भी चार भेद मुख्य है। नागर उपनागर केकय और ब्राचड। आचार्य हेमचन्द ने शौरसेनी अपभ्र श का व्याकरण लिखा है। जैन विद्वान् नामिसाधु ने रुद्रट के 'षष्ठोऽत्र भूरि भेद' और देश विशेषात्—की व्याख्या के अवसर पर जो विचार प्रकट किए है, उनसे कई महत्त्व के परिणाम निकलते है। उससे अपभ्र श की विकास परम्परा का पूरा सूत्र मिल जाता है।

---

* प्राकृत सस्कृत मागध पिशाचभाषा शौर सेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादप भ्र श ॥

† तथा प्राकृतमेवापभ्र शः सचान्यै'—
रुपनागराभीर ग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तः ॥

उसने उपनागर ग्राम्य और आभीरी ये तीन भेद किए है। यदि हम अंत से शुरू करे तो 'आभीरी' उस समय का नाम है जब यह भाषा जातिविशेष (आभीरो) की बोली थी, और इसका देशभाषा के रूप मे प्रयोग नहीं हुआ था, यद्यपि इसका प्राचीन साहित्य उपलब्ध नही है, तो भी इतना निश्चित है कि भरतमुनि की आभीरोक्ति और नामि साधु की आभीरी तत्त्वत एक ही वस्तु है। आभीरो के ग्राम्यवासी और भारतीय संस्कृति मे दीक्षित होने पर—आभीरी और प्राकृत के मेल से ग्राम्य भाषा का विकास हुआ, अधिक विकसित होने पर वह उपनागर कहलाई और जब आभीरो की राज्य सत्ता उन्नति के चरम शिखर पर थी तब अप-भ्रंश के नाम से देश भाषा के पद पर अधिष्ठित हुई।

एक जगह भोज लिखते है कि गुर्जर अपने अपभ्रश से संतुष्ट रहते है अन्य से नहीं, इससे गुर्जरो का अपभ्रंश से सम्बंध सिद्ध होता है। आगे चल कर—प्राकृतो की आधार-भूमि पर इन यायावरो की बोली का विकास हुआ। कुछ विद्वान् कृष्ण का सम्बन्ध आभीर जाति से जोड़ते है। यहाँ इसकी मीमांसा अप्राकृत है।

अपभ्रंश और देशी

वेदयुग से लेकर आज तक भाषा के द्विविध रूप रहे है। एक साहित्यरूप और दूसरा बोल चाल का। जिस समय पाणिनि ने संस्कृत का व्याकरण लिखा उस समय वह बोल चाल की भाषा थी इसी लिए उन्होने उसे भाषा कहा, सस्कृत नाम बाद का है, जब संस्कृत साहित्यरूढ़ भाषा हुई तो प्राकृते बोल चाल मे प्रयुक्त होने लगी, प्राकृतजनकी भाषा होने से वे प्राकृत ही थी, आगे चल कर संस्कृत और प्राकृत वैयाकरण उन शब्दो को

देशी कहने लगे जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं होती थी, ये देशी वचन थे। प्राकृत काल में भरत मुनि ने आभीरी आदि भाषा को देशी कहा था आचार्य हेमचन्द ने संस्कृत से भिन्न व्युत्पत्ति शून्य प्रान्तीय शब्दों को देशी कहा है। देशी का वस्तुत Speakinglanguage से तात्पर्य है। देशी से अनार्य का कोई सम्बन्ध नहीं। ६ वीं सदी से अपभ्रंश शब्द का ग्रहण प्रान्तीय भाषा के अर्थ में होने लगा। बाद के लेखक अपनी रचना को देशी कहते थे। १३ वीं सदी के महाराष्ट्र लेखक ने अपनी रचना को देशी कहा है। इस काल में अपभ्रंश साहित्य रूढ हो चुका था, इसीलिए महाकवि विद्यापति को कहना पड़ा—"संस्कृत* बहुतों को अच्छी नहीं लगती और प्राकृत रस के मर्म से अपरिचित हैं। देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इसीलिए मैं उसी में रचना करता हूँ।

जो प्राकृत १४ वीं सदी में विद्यापति को रस हीन जान पड़ी उसी के विषय में कुछ समय पूर्व राजशेखर की यह गर्वोक्ति थी कि संस्कृत भाषा का बंध कठिन होता है, और प्राकृत का सुकुमार। संस्कृत और प्राकृत में उतना ही अन्तर है जितना पुरुष और महिला में। पर काल के प्रवाह में विद्यापति के देशी वचनों की मिठास आधुनिक भाषाओं ने छीन ली। भारत वर्ष में साहित्य रूढ भाषा का मोह सदैव रहा है, इस लिए लोकभाषा में कविता

---

* "सक्कर वाणी बहु न भावइ
पाउअ रस को मम्म न जानइ
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
ते तैसन जम्पओ अवहट्टा

करते समय कवियों को बड़े साहस से काम लेना पड़ा। महा-कवि तुलसी दास जी ने रामचरित मानस को भाषा-भनति कहा है। उनकी रचना भाषा की रचना है। खड़ी बोली के विकास काल में संस्कृत विद्वान् इसे भाखा कहते थे। अतः प्राकृत अपभ्रंश और भाषा के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है लोक भाषा और दूसरा है साहित्यिकभाषा। अपभ्रंश के भी दो रूप रहे होंगे। पर जब वह उत्तरोत्तर साहित्यरूढ होती गई तो यह स्वाभाविक था कि नई भाषाओं के लेखक अपनी रचना को देशी कहते।

अपभ्रंश की प्रसारभूमि !

राजशेखर ने काव्य मीमांसा में—राजसभा का जो चित्र खींचा है उसमें अपभ्रंशभाषा के कवियों का भी उल्लेख है। उसके अनुसार समस्त मरुभू (मारवाड़) टक्क (पंजाब) और भादानक में शुद्ध अपभ्रंश काव्य का प्रचार था, और सुराष्ट्र (काठियावाड) तथा त्रवण में अपभ्रंश मिश्रित संस्कृत का। राजसभा में अपभ्रंश कवियों के बैठने की जगह पश्चिम में थी। नामिसाधु ने मागधी में भी अपभ्रंश का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य व्यापक था। दोहाकोष के रचयिता कह्रप्पा बंग में हुए, प्रसिद्ध अपभ्रंश कवि पुष्पदंत मान्यखेट के थे, और सिद्ध सरोरुह कामरूप (आसाम) के। पश्चिमी केन्द्र का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकार गुजरात से आसाम और दक्खिन में मान्यखेट तक अपभ्रंश का प्रचार रहा। कम से कम तीन केन्द्रों में अपभ्रंश साहित्य का निर्माण हुआ। इनमें पश्चिमी केन्द्र में अधिक कवि हुए। नमिसाधु ने प्राकृत को ही अपभ्रंश कहा है, प्राकृत से उसका अभिप्राय बोल चाल की

भापा से है। उसने यह भी कहा है कि अपभ्रंश* का लक्षण लोक से ज्ञातव्य है। कही कही यह मागधी मे भी देख पड़ती है"। जब एक भापा लोकभापा के रूप मे विस्तृत हो जाती है तब उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति को लक्षण द्वारा समझना कठिन हो जाता है। प्रत्येक जीवित भापा के वारे मे यह सत्य है। इस प्रकार अपभ्रंश भापा और साहित्य का पूर्ण विकास हो चुकने पर आचार्य हेमचन्द्र ने लक्ष्य ग्रन्थो के आधार पर प्रतिमित अपभ्र श भाषा (Stardardised Language) का व्याकरण लिखकर उसे स्थिर रूप दिया। राजशेखर, वाग्भट्ट, भोज, मार्कन्डेय, प्रभृति —साहित्याचार्यों ने अपभ्र श पर जो कुछ लिखा है, वह उसके भेद प्रभेद साहित्य और विस्तार सीमा से अधिक सम्बन्ध रखता है। भापा के विकास क्रम को समझने मे उससे अधिक सहायता नही मिलती।

आभीर जाति और अपभ्रंश

ऊपर हम देख चुके है कि आभीर जाति से अपभ्र श का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से जोडा जाता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि भारतीय इतिहास से इसकी पुष्टि कहा तक होती है, जहा तक आभीरो का सम्बन्ध है वे यायावर थे। भरत और दडी ने आभीरो का उल्लेख किया है। महाभारत मे भी आभीरो का उल्लेख दो जगह मिलता है। एक तो राजसूय सभापर्व के अवसर पर शूद्राभीर उपायन लेकर आए और दूसरे जब अर्जुन यादवियो को लेकर द्वारका से लौट रहे थे तब रास्ते मे लठ्ठवाज आभीरो ने यादवियो को उनसे छीन लिया। अर्जुन के साहस

*"तस्या च लक्षणं लोकादवसेयं। क्वचन्-मागध्यामपभ्रशः दृश्यते"

पूर्ण जीवन मे यही एक ऐसा प्रसंग है जब उसके विश्वजयी गांडीव ने उसकी सहायता नही की। ये लूटपाट मचाने वाले भी, आभीर थे। इस पर आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरो के दो दलों की कल्पना की है। पहली बार जो आभीर आए वे आर्यों की चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के अनुसार शूद्रश्रेणी मे दीक्षित होकर उत्तर पच्छिम प्रदेश मे वस गए। शूद्राभीर यही थे।

दूसरा दल वाद मे आया, वह उद्धत और लुटेरा था। इसलिए भारतीय संस्कृति मे अन्तर्भुक्त नहीं हुआ। आगे यवन आक्रमण काल मे वे सव इस्लाम धर्म मे दीक्षित हो गए। यह दूसरा दल आभीर कहलाया। स्व० डाक्टर जायसवाल, शूद्राभीर की जगह शूराभीर पाठ शुद्ध समझते है। पर भंडारकार इन्स्टी-च्यूट से महाभारत का जो सस्करण निकला है उसमे भी शूद्राभीर पाठ है। शूराभीर पाठ किसी भी प्रति मे उपलब्ध नही है। उत्तरभारत आज भी घोसी जाति पाई जाती है, गोपालन और वयन इसकी आजीविका के मुख्य साधन है। 'गंगायां घोष' 'आयो' घोस वड़ो व्यापारी' आदि भी घोषो की प्रबलता के सूचक है। ये वस्तुत. आभीर थे और भारतीय ग्राम्य सस्कृति मे दीक्षित हुए थे, इनका विस्तार गुजरात से मगध तक था। अवदानो मे यद्यपि आभीरो की चर्चा है, पर उनकी बोली का उल्लेख उनमे नही मिलता, तो भी यह उनकी बोली थी इसमे संदेह नही, आगे चल कर प्राकृतो की आधार भूमि पर इसका विकास हुआ। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिमित अपभ्रंश मे 'कटिरे' आदि शब्द ठेठ यायावरो से सम्बन्ध रखते है कुछ धातु और शब्द ठेठ अपभ्रंश के है, इनका अनुशासन संस्कृत और प्राकृतो के व्याकरणो द्वारा नितांत असंभव है, इलाहावादवाले स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की आभीर-विजय का

उल्लेख है, कुछ लोग युक्तप्रांत के अहीरो का सम्बन्ध आभीरो से जोड़ते है। आभीरो का प्रथम प्रवेश १५० ई० पूर्व० हुआ ? उनकी अपनी स्वतंत्र भाषा थी, आभीरो की तरह गुर्जर भी यायावर थे ? आचार्य दडी ने 'आभीरादिगिर:' द्वारा इन्ही की ओर सकेत किया है। उसके बाद दक्खिन केन्द्र का नम्बर आता है और तब पूर्वी केन्द्र का। यद्यपि केन्द्र बनाकर अपभ्रश कवियो ने काव्य सृष्टि नही की, केवल अपभ्रश साहित्य के प्रसार को समझने के लिए, यह विभाजन किया गया है। प्रो० जयचन्द विद्यालकार—आभीरो को मारवाड और राजपूताने का ही मूल निवासी मानते है, जो भी हो परन्तु इतना निर्विवाद है कि आभीरी आभीरो की बोली थी।

अपभ्रंश में अन्य प्राकृतों की विशेषताएं

यद्यपि आचार्य हेमचन्द ने शौरसेनी अपभ्रश का ही व्याकरण लिखा है, तो भी उसमें सभी प्राकृतो के लक्षण उपलब्ध है। उसकी व्यापकता का यह भी एक प्रमाण है, शौरसेनी प्राकृत मे मध्यग व्यञ्जन को कोमल (Soft) बनाने की प्रवृत्ति है। उसमे 'त' का 'द' हो जाता है। अपभ्रंश मे* भी मध्यग क ख त थ प फ को क्रमश ग घ द ध और ब भ हो जाते है। जैसे कथितु का कधिदु आदि। इसके ठीक विपरीत महाराष्ट्री† प्राकृत मे मध्यग क ग च ज त द प य व के लोप करने की प्रवृत्ति है अपभ्रश मे भी यह प्रवृत्ति है। जैसे—गत = गअ = गय, नूपुर = णेउर इत्यादि। महाराष्ट्री मे आदि य का ज होता है, परन्तु

---

* अनादौ स्वरादसयुक्ताना क ख त थ प फा ग घ द ध बभा'।

† क ग च ज त द पयवा प्रायो लोप.।

शौरसेनीवत् ८।४।४४६।

मागधी मे आदि ज का य होता है। अपभ्रंश मे भी यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं लक्षित होती है, जैसे—याणीम जानीम., मागधी मे व्रज का वुञ्ज होता है और अपभ्रंश मे वुञ। यह मागधी प्रभाव है। चूलिका और पैशाची में र को ल कर देते है। अपभ्रंश मे कई जगह र को ल करने की प्रवृत्ति है। जैसे चरण=चलन। इस प्रकार अपभ्रंश मे प्राय सभी प्राकृतो के लक्षण उपलब्ध होते है।

प्राकृत और अपभ्रंश

प्राकृतों के अनंतर, विकास होने पर भी अपनी विशेपताओ के कारण अपभ्रंश एक स्वतत्र भापा है। प्राकृतो की मूल प्रवृत्ति ओकारान्त (शौरसेनी) और एकारान्त (पूर्वीप्राकृत) है। जब कि अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त है। इसीलिए उसे उकार बहुला कहा गया है। व्रज मे शौरसेनी का ओकारान्त रूप अब भी सुरक्षित है, इसी प्रकार मागधी एकारान्तरुप आधुनिक पूर्वी बोलियों मे है। अलीगढ़ के आस-पास घोड़ु आदि उकारान्त रूप अभी भी प्रचलित है अपभ्रंश मे अकारान्त प्रवृत्ति के भी उदाहरण विरल नही है।

प्राकृतो से अपभ्रंश मे रूपावली का भी भेद है, प्राकृतो मे विभक्तियो के सात चिन्ह है, इतने अपभ्रंश मे नही है। उदाहरण के लिए, पाली मे अपादान के बहुबचन मे देवात् और देवस्मात् रूप होते है पर अपभ्रंश मे देवहो और देवहु। यह सर्वथा नये विभक्तिचिन्ह है। देवस्य से अपभ्रंश का देवस्स चाहे सिद्ध हो जाय पर देवस्सु नही सिद्ध किया जा सकता।

इसी प्रकार धातुरूप मे भी विशेपता है। प्राकृतो मे तिङ्गत क्रिया के रूप है, अपभ्रंश के सामान्यभूत मे भूतकृदन्त का प्रयोग होता है, चलन्त करन्त आदि कृदन्त के रूप हैं। पंजाबी का

आकारान्त रूप "तूँ कि थै जान्दा" अपभ्रंश का ऋणी है। वर्तमान काल मे तिङन्त और कृदन्त दोनो रूप चलते हैं। हिन्दी में कृदन्त और सहायक क्रिया से काम चलाया जाता है। संस्कृत मे आज्ञा और विधि के रूपो मे भेद है, अपभ्रंश मे यह बात नही। कर्मवाच्य मे चलिज्जइ और चलिअइ रूप होते है। क्रिया को कीसु आदेश और सस्कृत के लज्जेयम् का लज्जेजं रूप अपभ्रंश की विशेपता है।

अव्यय—प्राकृत और अपभ्रश के अव्यय मे भिन्नता है, कटरि आदि आश्चर्य वोधक अव्यय अपभ्रश की अपनी शब्द सम्पत्ति है। "स्पर्शादीनां छोल्लादय." मे वहुत सी ऐसे धातु है जिनका प्राकृत धातुओ से कोई सम्वन्ध नही।

साहित्यशैली की दृष्टि से भी प्राकृत और अपभ्रश भिन्न भिन्न है, प्राकृत मे राजशेखर ने सस्कृत छदो* का प्रयोग किया है। फिर भी प्रत्येक भापा का अपना औरस छद है, सस्कृत का अनुष्टुभ, प्राकृत का माथा, और अपभ्रंश का दूहा। दुप्पई आदि—अपभ्रश के नये छद है। अन्त्यानुप्रास, पहले पहल अपभ्रश मे ही देख पडता है। सस्कृत महाकाव्य के सर्ग को आख्यान, प्राकृत काव्य के सर्ग को आश्वास, और अपभ्रश काव्य के सर्ग को कुडवक कहते है। इस प्रकार अपनी विशेप-प्रकृति प्रवृत्ति, व्याकरण छद और साहित्य शैली की दृष्टि से अपभ्रश प्राकृत से पृथक् भाषा प्रमाणित होती है।

---

* अपभ्रशनिविद्धेऽस्मिन् सर्गा. कुडवकाभिधा तथा अपभ्रशयोग्यानि छदासि विविधान्यपि।

अपभ्रंश और अवहट्ट

कीर्तिलता की भाषा को विद्यापति ने अवहट्ट कहा है। बहुत से विद्वान् अवहट्ट और अपभ्रंश, को एक ही भाषा समझते हैं, उनके तर्क का मुख्य आधार विद्यापति का "ते तैसल जम्पओ—अवहट्टा" है, तैसल (तादृश) का अर्थ वे 'वही' करते है, और अवहट्ट को अपभ्रंश का ही विकृत रूप मानते है, परन्तु भाषा-विकास की दृष्टि से—अपभ्रंश और अवहट्ट भिन्न भाषाएं ठहरती हैं। जिस प्रकार, प्राकृत की आधार-भूमि पर खड़ी होकर भी अपभ्रंश अपनी प्रवृत्ति और रूपावली के कारण, अलग भाषा है; उसी प्रकार अपभ्रंश की भूमिका पर विकसित होकर भी, अवहट्ट अपनी विशेष प्रवृत्ति और रूपावली के कारण प्रथग् भाषा मानी जानी चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश भाषा का अनुशासन किया है, वह प्रतिमित भाषा थी उसके विरुद्ध जो प्रयोग किए जायेंगे वे अपभ्रंश के व्याकरण से च्युत समझे जायेंगे। यह स्पष्ट है कि अवहट्ट भाषा के लेखकों ने सर्वथा अपभ्रंश व्याकरण के नियमों का पालन नहीं किया। देशी शब्दो के अतिरिक्त प्रांतीय रूपों की उनकी भाषा मे प्रचुरता है, उदाहरण के लिए विद्यापति की कीर्तिलता को ही लीजिए—उसमे भेल गेल, 'छोरका तुटउ भभकी मार' 'अमरावती के अवतार भा,—बिलकुल नये और विलक्षण प्रयोग हैं, बंगाल के चौरासी सिद्धो की भाषा अवहट्ट ही है, इस प्रकार अपभ्रंश के व्याकरणिक आधार पर—प्रांतीय शब्दो और रूपो के मेल से जो भाषा विकसित हुई—वह अवहट्ट थी, इसका काल १३ वी सदी से १५ वी सदी तक माना जाता है। तत्कालीन भारत के विभिन्न केन्द्रो मे अवहट्ट साहित्य सृष्टि में हुई है. महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्धगान ओ दोहा'

की भाषा को पुरानी बंगला कहा है। इसी प्रकार—महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी की टीका जिस भाषा में हुई है उसमें अपभ्रंश और वहाँ की प्रांतीय भाषा के रूपों तथा शब्दों का मेल है, प्राचीन गुजराती 'निबंध-संग्रह' पच्छिमी भारत की अवहट्ट को सूचित करते हैं, राजस्थान में चंदवरदायी के—पृथ्वीराज रासे में ब्रज का मेल होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार रोमन-साम्राज्य ध्वस्त होने के बाद वहाँ की भाषा लुप्त होने पर अनेक भाषाएं उठ खड़ी हुई, यही बात अपभ्रंश के लुप्त होने पर यहाँ हुई। इस प्रकार अवहट्ट अपभ्रंश से जुदी भाषा है, और वह आधुनिक भारतीयआर्य-भाषाओं तथा अपभ्रंश के बीच की कड़ी है। कम से कम ३०० वर्ष इसका विकास काल कूता गया है।

अपभ्रंश का व्याकरण

आ० वररुचि प्राकृतों के पहले वैयाकरण माने जाते हैं उन्होंने महाराष्ट्री पैशाची मागधी और शौरसेनी का ही व्याकरण लिखा है। अर्धमागधी का उल्लेख उनके प्राकृत प्रकाश में नहीं हुआ। जान पड़ता है कि उनके समय तक अर्धमागधी-साहित्य का उदय नहीं हुआ था। उनका आविर्भाव-काल ई० ५ वीं सदी है। चंद कवि पहले प्राकृत वैयाकरण थे जिन्होंने अपने प्राकृत लक्षण में अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है। एक सूत्र में यह नियम बताया गया है कि अपभ्रंश में अध स्थित रेफ का लोप नहीं होता। उनके बाद अन्य वैयाकरणों ने अपभ्रंश की चर्चा नहीं की। साहित्य-शास्त्र में अवश्य इसका छिट फुट उल्लेख हुआ। छटवीं सदी से अपभ्रंश साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति पर था, आचार्य हेमचन्द्र ने १२ वीं सदी में इसका सर्वांगीण व्याकरण लिखा, उन्होंने जिस अप-भ्रंश का व्याकरण लिखा है वह प्रतिमित (Standardlanguage)

भापा थी, फिर भी उसमे कई भापाओ का मेल है। उदाहरण के लिए जैसे तृणु तिणु, सुखे और सुघे, कमलु और कवंलु, करति और करहि। आज्ञा मे करि और करे, भविष्य-काल मे 'स' की जगह 'ह' तथा कर्मवाच्य मे किज्जइ और करिअइ—ये दुहरेरूप दो भापाओ के मेल को सूचित करते हैं।

आचार्य हेमचन्द ने धात्वादेश के सिवा १२० सूत्रो मे नियमो उल्लेख किया है। उनके व्याकरण का मुख्य आधार शौरसेनी अपभ्रंश है उनके वाद त्रिविक्रम लक्ष्मीधर और सिंहराज ने भी अपभ्रश की चर्चा की है, इनमे त्रिविक्रम (छठ वी सदी) ने तो वात वात मे हेमचन्द की नकल की है और इसलिए उसके व्याकरण मे कोई मौलिकता नही। क्रम विपर्यय और सूत्र-विच्छेद द्वारा उसने एक प्रकार से हेमचन्द्र के व्याकरण को उतार दिया है।

दो चार सूत्रो के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

हेमचन्द	त्रिविक्रम
(-) शीघ्रादीनॉ वहिल्लादय.	(२) वहिल्लगा शीघ्रादीनाम्
(।) स्वराणां स्वरा प्रायोऽपभ्रशे	(।) प्रायोऽपभ्रंशेऽच्
(१) वा राधो लुक्	(?) रोलुक्

फिर भी उन्होने दो वाते महत्त्वपूर्ण की है, एक तो अपभ्रंश उदाहरणो की संस्कृत छाया दी है और दूसरे अपने के ग्रथ मे वहुत से देशी शब्दो की सूची दी है, हेमचन्द की शब्दसूची से यह सूची वहुत वड़ी है। इन शब्दो के अध्ययन से अपभ्रश की तत्कालीन स्थिति और प्रवृत्ति के विपय मे अधिक जानकारी मिलने की पूरी सम्भावना है। कुछ शब्द तो पूर्ववर्ती भपाओ के लिए एकदम अपरिचित है। कही कही उन्होने अनेकार्थ शब्द भी दिये हैं।

उसरी = उष्णजल, स्थली
केड्डु = फैलना, फेन, श्याल और दुर्बल,
ओहम् = नीवी और अवगुंठन
वभार = गुफा और सधरत
तोल, तोड्डु = पिशाच और शलभ
डिखा = आतक और त्रास
लुबी = लल और स्तवक
अमार = नदी के बीच का टीला, कछुआ
करोड = कौआ, नारियल और बैल,
उएठल = बब्बरी
काटिल्ली = व्याकरण और भ्राष्ट
कारण्ड = सिह और कौआ
* झाड़ = लतागहन
गोप्पी = सम्पत्ति और बाला

इन शब्दो को त्रिविक्रम ने देशी कहा है, देश विशेष मे व्यवहार होने से उन्हें सिद्ध अथवा प्रसिद्ध समझना चाहिए।

हेमचंद और अपभ्रंश

सस्कृत का व्याकरण लिखकर जिस प्रकार पाणिनि अमर हो गए उसी प्रकार आचार्य हेमचंद अपभ्रंश का व्याकरण लिखकर। १२ वी सदी मे वह विलक्षण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए। सं० ११४५ मे उनका जन्म हुआ और शरीरात १२२६ मे। उनके तीन नाम बदले। जन्म का नाम चंगदेव, दीक्षा का नाम सोमचंद और सूरि होने पर हेमचंद। सिद्धराज जयसिह के यहाँ

---

* झाडादयः शब्दा देश्या देशविशेषव्यवहारादुपलभ्यमाना. सिद्धाः निष्पन्ना प्रसिद्धा वा वेदितव्याः।

उनका बड़ा मान था, राजा स्वयं शैव था, परन्तु वह सब धर्मों का आदर करता था। सिद्धराज के लिए हेमचंद ने अपना प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ सिद्धहेमशब्दानुशासन लिखा। कुमार-पाल के समय हेमचंद का और भी मान बढा। तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियो मे गुरुशिष्य की यह जोड़ी खूब प्रसिद्ध हुई। धार्मिक देशना के सिवा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम उन्होने साहित्य के क्षेत्र मे किया। काव्य साहित्य शास्त्र, न्याय कोष और व्याकरण सभी पर उनके ग्रंथ उपलब्ध है। अभिधान चितामणि देशीनाममाला छंदानुशासन काव्यानुशासन आदि उनके प्रसिद्ध ग्रंथ है। राज्य की ओर से उनकी सहायता के लिए ५०० लेखको और राजताड़पत्र का प्रबन्ध था। भारतीय भाषा और साहित्य के इतिहास मे पाणिनि के बाद शायद आचार्य हेमचंद ही हुए जिन्होने पिछली भाषाओ के साथ अपने समय की भाषा का भी व्याकरण लिखा। पाणिनि की तरह यह भी लक्ष्यदृष्टिक थे, मनुष्य ही भाषा का निर्माण करता है, और वही उसे अमर बनाता है, आचार्य हेम-चन्द ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखकर उसे अमर कर दिया, अपभ्रंश को समझने बूझने का एकमात्र आधार उनका व्याकरण ही है, हेमचन्द का दूसरा महत्त्वशाली काम यह है कि उन्होने लक्ष्यो के उदाहरण मे पूरे दोहे दिए है इस प्रकार लुप्त प्राय. बड़े भारी साहित्य के नमूने सुरक्षित रह गए। अपभ्रंश का स्वभाव समझने मे इससे बडी सहायता मिलती है इससे यह भी अनुमान होता है कि अपभ्रंश का प्रखर साहित्य रहा होगा जो या तो नष्ट हो गया या फिर पुस्तकभंडारो मे अंधकार और दीमक की भेट चढ़ रहा है। हेमचन्द का तीसरा महत्त्व यह है कि वे पाणिनि और भट्टोजिदीक्षित होने के साथ साथ भट्टि भी थे। अपने

द्वयाश्रय काव्य मे उन्होने व्याकरण के अनेक उदाहरण दिए है। चौथा महत्त्व उनका यह है कि उन्हे तत्कालीन भारतीय साहित्यिक प्रवृत्तियों का पूरा ज्ञान था। इसका प्रमाण उनका देशी नाममाला नामक शब्द कोप है, इसमे प्राकृत शब्दो का सकलन अकारादि क्रम से है, इसके पहले इस प्रकार का क्रम देखने मे नही आया, अक्षर क्रम के साथ द्वयक्षर त्र्यक्षर आदि का भी क्रम है। उन्होने देशी को ही अनादि-प्रसिद्ध प्राकृत भापाविशेप कहा है। हेमचद ८४ वर्प जीवित रहे। आत्म साधना और साहित्य सेवा ही उनके जीवन का व्रत रहा। वारहवी सदी के वह सवसे अधिक तेज आँख वाले विद्वान् थे।

अपभ्रंश और लोकभापा

स्काटलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर कीथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ सस्कृत साहित्य के इतिहास मे अपभ्रश के विपय मे जो विचार व्यक्त किए है उनमे दो वाते विशेप रूप से लक्ष्य करने की है, एक तो यह कि अपभ्रश आधुनिक भापाओ की जननी मानना सैद्धान्तिक कल्पना है, दूसरे यह कि वह काव्य भापा थी, लोक से उसका कोई सम्वन्ध नही। आचार्य केशवप्रसाद ने डाक्टर कीथ के इस मन्तव्य का सप्रमाण खडन किया है। डाक्टर कीथ का प्रथममत इसलिए ठीक नही कि अभी तक पूर्ण सामग्री का सकलन नही हो सका, पुरानी गुजराती का अपभ्रश से विकास, डाक्टर कीथ को भी स्वीकार्य है, पर सभी भापाओ के विपय मे वह यह नही मानते। आचार्य केशव प्रसाद ने पूर्वी हिन्दी प्रदेश की एक बोली (वनारसी बोली) के वहुत से ऐसे उदाहरण दिए हैं कि जो आचार्य हेमचद की प्रतिमित अपभ्रश के शब्दो रूपो और मुहावरो से मिलते जुलते है। इससे

स्पष्ट है कि अपभ्रंश पच्छिमी प्रदेश ही नहीं, पूर्वी प्रदेश की भी भाषा रही होगी। उदाहरण के लिए देखिए।

अपभ्रंश	बनारसी
दिअहा जति झडप्पडहि	दिनवाँ जॉय झटपट्य
पडहि मनोरह पच्छि	पडय मनोरथ पाछ
वट्टइ	वाट्य
पुत्ते जाए कवण गुणु अवगुणु	पूत भइले कवन गुन
कवणु मुएण	अवन कवन मुएले
जा वप्पीकी भुहंडी	जेकर वापेक भुइयाँ
चम्पिज्जइ अवरेण	चापल जाय अवरे।
ओ गोरी मुह निज्जअउ	अ गोरी मुँह जीतल
वद्दलि लुक्कु मियकु	वदरे लुकल मयंक
अन्नु वि जो पहि विह सो	आनो जे घूसल से
किव भवइ निसकु	कैसे घूमय निसंक
एक कडुल्ली पचहि रुद्धि	एक कुडुल्ली पांच रुद्धी पाचो
तदपञ्चहं वि जुअं जुअ वुद्धि	क वी जुदे जुदा वुद्धि

(१) इस प्रकार भोजपुरी के जवन तवन कवन आदि रूप शुद्ध अपभ्रंश के है।

(२) वट्टइ रहइ—का उच्चारण वाट्य रह्य होता है।

(३) कर जेकर तेकर कन्ताक आदि शब्द अपभ्रश के सम्बन्ध वाचक से विकसित हुए है।

(४) कयल मयल आदि रूप कृदन्त के है जो अल जोड़कर बनाए गए है यह मागधी की विशेषता है

(५) जो, को, सो, की जगह के, जे, ने आदि अर्धमागधी का प्रभाव है।

(६) खल्लडउ=खल्लड, चम्पिल्लइ=चांपलजाय वद्दलि=वदरे, लुक्क=लुकल में जो समानता है, वह दोनो भाषाओं के तात्त्विक सम्बन्ध को सूचित करती है।

(७) र मागधी में ल होता है, कभी यह विशेषता पश्चिमी और मध्यदेशीय भाषा में भी रही है, अपभ्रंश मे सभी प्राकृतो के लक्षण पाए जाते हैं।

(८) स्वार्थिक प्रत्यय डड,अ आदि का प्रभाव मुखड़ा दुखडा आदि मे अभी भी देख पडता हैं।

(६) अपभ्रंश की मुख्य प्रकृति उकार वहुला है पूर्वी नामों में अभी भी यह उपलब्ध है—रामू ननकू आदि। इस प्रकार हजार वर्ष पुरानी भाषा के नमूने आज भी वोलियो मे मिलना यह सूचित करता है कि अपभ्रंश का आधुनिक वोलियों से सम्बन्ध अलग नहीं किया जा सकता। अव दूसरा तर्क यह रह जाता है, कि अपभ्रंश काव्य भाषा थी। इसका समाधान भरत रुद्रट और नमिसाधु के उल्लेखों से हो जाता है, अन्यत्र इसका विचार किया जा चुका है, अत' अपभ्रंश वोलचाल की भाषा रही। आगे चलकर उसका काव्य भाषा के रूप में विकास हुआ। उसे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी मानना सर्वथा उचित है।

अपभ्रंश और कालिदास

भरत मुनि के वाद महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशी मे अपभ्रंश का प्रयोग मिलता है। राजा पुरूवा ने अपना मत्तप्रलाप अपभ्रंश मे ही किया है शव्द प्राकृत होते हुए भी रूपावली अपभ्रंश की है। अन्त्यानुप्रास मिलना भी इसकी विशेषता है। अत' रूपों और तुकवंदी के आधार पर इसे भरत मुनि के वाद की अपभ्रंश कहना चाहिए। पर जैकोवी और प्रो० गुणे प्रभृति विद्वान्

इस अंश को प्रक्षिप्त मानते है, अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होने तीन तर्क दिए है।

(१) यह अंश गाथा मे है जो प्राकृत का औरस छंद है, अपभ्रंश का अपना छंद दोहा है।

(२) कई टीकाकारो ने इसका अर्थ नही लिखा—यदि यह पहले से मौजूद रहता तो वे अवश्य अर्थ करते।

(३) कमल की जगह 'कवॅल' नही मिलता।

आचार्य केशवप्रसाद इन तर्कों को अधिक युक्तियुक्त नहीं। मानते क्योकि अपभ्रंश का 'दूहा' मे न होना साधक बाधक नहीं छंद औरस होते हुए भी भापा के स्वरूप का निर्णायक नहीं, कालिदास का समय अनश्चित है कुछ लोग उन्हें गुप्तकाल का मानते है और कुछ विक्रम के समय का, यदि कालिदास विक्रम-कालीन हो, तो अपभ्रंश का अस्तित्व और पीछे मानना पड़ेगा। दूसरे तर्क मे सबसे बडी यह आपत्ति है कि प्रो० जैकोबी ने इन टीकाकारो का संख्याक्रम नही दिया अथवा यह भी सम्भव है कि टीकाकारो ने प्राकृत समझ कर अर्थ करने की आवश्यकता न समझी हो। तीसरा तर्क अपभ्रश व्याकरण की दृष्टि से ही खंडित है क्योकि 'म' का वॅ प्रयोग वैकल्पिक है मोऽनुस्वारः नियम के भीतर आचार्य हेमचन्द ने स्वयं इसके दुहरे उदाहरण दिये है कमल=कवॅल, इत्यादि अतः उक्तअंश को अपभ्रंश का मानने मे कोई विप्रतिपत्ति नही।

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रश भापा मे प्रभूत साहित्य उपलब्ध है अभी तक अपभ्रश साहित्य के निम्न विभाग किए जा सकते है, स्तोत्र काव्य, कथाकाव्य प्रबंधकाव्य और खंडकाव्य। इसके अतिरिक्त कालिदास

के बाद सरहपा का कण्हदोहा कोष अपभ्रंश में मिलता है। शृंगार वीर और नीति की स्फुट रचनाएँ भी बड़ी गम्भीर और मार्मिक मिलती हैं ८ वीं १० वीं सदी में महाकवि स्वयम्भू ने हरिवंश पुराण और पउमचरिउ की रचना की। बाद में उनके पुत्र त्रिभुवन ने पिता का अधूरा काम पूरा किया। धनपाल ने 'भविसत्त कहा' बनाई, और महाकवि धवल ने 'हरिवंश' पुराण रचा, इसमें जैनतीर्थंकर नेमिनाथ और महावीर का जीवन चरित्र है। ११ वीं सदी में महेश्वर ने संयममंजरी बनाई, महाकवि पुष्पदन्त का 'महापुराण' भी इसी युग की रचना है। श्रीचन्द मुनि का कथा कोष, सागरदत्त का जम्बुस्वामीचरित, पद्मकीर्ति का पार्श्वपुराण, नयनंदि का सुदर्शनचरित्र और आराधना कथा-कोष इसी सदी में रचा गया। अभयदेवसूरी का 'जय तिभुवन' गाथास्तोत्र हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र का सुलसाख्यान और शान्तिनाथचरित्र, वर्धमान सूरी का वर्धमानचरित्र, श्री लक्ष्मण-गणी का संदेशरासक और प्राकृत सुपासनाहचरिउ में अपभ्रंश अंश, जिनदत्तसूरी का उपदेशरसायनचर्चरी, और काल स्वरूप कुलक, धाहिल कवि का पद्मिनीचरित्र, १२ वीं सदी की अपभ्रंश रचनाएँ हैं। हेमचन्द्र के बाद १३ वीं सदी में महेन्द्र ने योगसार और परमात्म प्रकाश लिखे, माइल्ल धवल ने दर्शनसार का अपभ्रंश दोहों में अनुवाद किया। दोहाकाव्य में दोहा-कोष के बाद पाहुडदोहा सावय-धम्मदोहा दोहाकाव्य की उत्तम रचनाएं है। इनमे धर्म तथा सदाचार सम्बंधी दोहे है। इस प्रकार १३ वीं सदी तक अपभ्रंश साहित्य की कृतियां उपलब्ध होती हैं उसके बाद अवहट्ट काल आता है। इस काल मे भी छिटपुट अपभ्रंश रचनाएं होती रहीं।

संस्कृत प्रकृतिः

'संस्कृतं प्रकृति' तत्रभवं तत. आगतं वा प्राकृतम्'—आचार्य हेम-चंद ने यह पंक्ति अपने व्याकरण के क्रम को लक्ष्य में रखकर कही है। उनका क्रम है संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची और अपभ्रंश। प्राकृत से उनका आशय महाराष्ट्री प्राकृत से है मागधी का दूसरा नाम आर्षप्राकृत भी है, प्रायः सभी प्राकृत वैयाकरणो का उपजीव्य संस्कृत व्याकरण ही रहा है उन्होंने संस्कृत व्याकरण के नियमो और प्रवृत्तियो में अपवाद और विशेप नियम बताकर ही प्राकृतो का व्याकरण लिखा है। प्राकृतो की प्रकृति और प्रत्ययो का स्वतंत्र दृष्टि से विचार नही किया। रूपरचना और ध्वनिविज्ञान दोनों के विवेचन का आधार सस्कृत है जहाँ संस्कृत से काम नही चला वहाँ विशेप आदेश कर दिए गए है। आचार्य हेमचंद के 'सस्कृत प्रकृति' का भी यही अभिप्राय समझना चाहिए। पहले उन्होंने संस्कृत का पूरा व्याकरण लिखा और उसके बाद महाराष्ट्रीप्राकृत के विशेप शब्दो ध्वनियो और रूपो का अनुशासन किया, शेप के लिए 'शेप संस्कृतवत्' कह दिया। प्राकृत के बाद शौरसेनी का अनुशासन करके उन्होंने लिखा है "शेषं प्राकृतवत्" और जो प्राकृत से सिद्ध न हो उसे 'संस्कृतवत्' समझना चाहिए मागधी के लिए शौरसेनी प्रकृति है। अपभ्रंश के लिए क्रम है, शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत। यह व्याकरण परम्परा का क्रम है। आचार्य पाणिनि ने सबसे पहले संस्कृत का व्यवस्थित और वैज्ञानिक व्याकरण लिखा, इस व्याकरण की खूब प्रसिद्धि हुई और वह भारतीय भाषाओ के व्याकरणो का उपजीव्य बन गया, पाणिनि लक्ष्यदृष्टिक थे, और उनके बाद के वैयाकरण लक्षणदृष्टिक हुए। आचार्य हेमचद ने व्याकरण की दृष्टि से संस्कृतं प्रकृति कहा है। इसके आधार पर यह समझना भूल है कि सस्कृत

से प्राकृतो का विकास हुआ। इसी प्रकार संस्कृत का अर्थ है संस्कार की गई भापा, पर इसका आशय यह नहीं है कि प्राकृतो से संस्कृत का विकास हुआ। पाणिनि ने भाषा के अर्थ मे संस्कृत शब्द का व्यवहार नहीं किया। उन्होंने 'छंदस् और लौकिक भापा' संज्ञा दी है। वस्तुत' उन्होंने छदस् और ब्राह्मण गद्यो की भापा के आधार पर संस्कृत का व्याकरण लिखा, उस समय यह भापा पच्छिमोत्तर गगा जमुना द्वाब मे वोली के रुप मे रही होगी, पाणिनि के अष्टाध्यायी से स्पष्ट है कि उस समय देश मे कई विभापाएं थी। अत. व्याकरण का पूर्वापर होना भापा के पूर्वापरपन को सूचित नही करता। जो वाते अपभ्रंश के प्रसंग मे कही गई है उनका ज्ञान शौरसेनी से कर लेना चाहिए और जो शौरसेनी से सिद्ध नही होती उन्हे महाराष्ट्री से, और फिर सस्कृत से। यह क्रम ध्यान मे रखने से अपभ्रश का स्वरुप सरलता से समझ मे आ जायगा। आ० हेमचंद ने सिद्ध और साध्यमान दोनो प्रकार के शव्द सस्कृत से लिए है, कोई भी भापा अमरवेल की तरह निराधार नही फैलती, पहले वह प्रादेशिकभूमि मे नामरूप ग्रहण करती है तव फिर राजनैतिक सास्कृतिक या साहित्यिक कारणो से सारे देश मे व्याप्त होती है। वैयाकरणो की अधिक कसावट और साहित्यिको की साज सवार से जव एकभापा रुढ़ और प्राणहीन हो जाती है तो नई भापा उसका स्थान ग्रहण करती है। भापा का शासन लोक (जनता) के आधीन है। वैयाकरण उसका अनुशासन करते है, साक्षात् शासन नही। प्राकृतो के पतन मे अपभ्रश के उत्थान का वीज था, और अपभ्रश के पतन मे आधुनिक भारतीय भापाओ की उत्पत्ति का। उत्थान पतन के इस क्रम मे एक भाषा दूसरी भापा से वहुत कुछ ग्रहण करती है और इस दृष्टि से उनमे एक सूत्रता खोजी जा सकती है।

वर्णमाला

वर्ण शब्द प्रतिनिधि और रंग का वाचक है। दोनों अर्थों के विचार से यह सार्थक शब्द है। लिखित और उच्चरित दोनो तरह की ध्वनि के लिए वर्ण शब्द का प्रयोग होता है। अक्षर Syllable को कहते है, एक झटके मे जितना स्वर व्यञ्जन समूह उच्चरित होता है, वह अक्षर कहलाता है, अतः वर्ण और अक्षर का अलग अलग अर्थ है, वर्ण के दो भेद हैं, स्वर और व्यञ्जन, स्वर उस शुद्ध नाद ध्वनि को कहते है जिसके उच्चारण मे अन्य ध्वनि की आवश्यकता नही पड़ती, स्वर मे स्वनंततत्त्व (Sonatary) व्यञ्जन की अपेक्षा अधिक रहता है, इसलिए उसका उच्चारण देर तक किया जा सकता है, उच्चारण की दृष्टि से स्वरो का स्वतन्त्र 'अस्तित्व'* है, पर व्यञ्जन के उच्चारण मे स्वरो की सहायता आवश्यक है स्वर के† बिना, व्यञ्जन का उच्चारण सम्भव नही। स्वर आक्षरिक (Syllabicater) होते है, आधुनिक भाषा विज्ञानी—र और ल को भी आक्षरिक मानते है, व्यञ्जन मे भी मात्रा का विचार किया जा सकता है। अपभ्रंश मे निम्नवर्णों का व्यवहार होता है।

(१) स्वर—	अ	इ	उ	ऍ	ऑ	[ह्रस्व]
	आ	ई	ऊ	ए	ओ	[दीर्घ]
(२) व्यञ्जन—	क	ख	ग	घ		(कण्ठ्य)
	च	छ	ज	झ		(तालव्य)
	ट	ठ	ड	ढ		(मूर्धन्य)

* स्वयं राजन्ते स्वरा.

† नाजमन्तरेण व्यञ्जनस्योच्चारण जायते।

आचार्य हेमचन्द ने अपने व्याकरण मे कहा है कि अपभ्रंश में कादि व्यञ्जनो में रहने वाले ए और ओ का लघु उच्चारण होता* है।

जैसे—"तसु हउं कलि जुगि दुल्लहहो"

"सुधे चिन्तिज्जइ माणु"

इन अवतरणो मे रेखांकित ओ और ए का लघु उच्चारण होता है, इनका दीर्घ उच्चारण करने पर एक मात्रा बढ़ जाने से छंदोभग हो जायगा।

(२) पद के अंत मे स्थित† उं हुं हिं और हं का भी लघु उच्चारण होता है,

(१) अन्नु जु तुच्छउ तहे धनहे ?

(२) दइवु घटावइ वणि तरहुं

(३) तणहुँ तइज्जी भंगि नवि

इनमे रेखांकित वर्णों का ह्रस्व उच्चारण समझना चाहिए, संस्कृतप्रदेश की भाषा होने से आधुनिक हिन्दी मे भी ह्रस्व ऍ और ऑ नही है। उनके स्थान मे ह्रस्वादेश करने की प्रवृत्ति है।

जैसे—ऍक्का = इक्का

सॊनार = सुनार

वैदिक‡ और लौकिक संस्कृत मे ह्रस्व ऍकार और ऑकार का प्रयोग नहीं होता, अफगानिस्तान से लेकर सरस्वती के लुप्त होने के प्रदेश तक की बोलियो के विषय मे यह बात आज भी सत्य है। परन्तु प्राकृतो और अन्य पूर्वीबोलियो मे ऍ ऑ का बराबर

---

* कादिस्थैदोतोरुच्चार लाघवं

† "पदान्ते उं हुं हिं हंकाराणाम्"

‡ न च लोके न च वेदे ह्रस्व एकार ओकारः।

व्यवहार होता आ रहा है, वर्णमाला और लिपि एक होने से वैयाकरणो ने इसका उल्लेख नहीं किया। देवनागरी वर्णमाला मे इनके लिए स्वतत्र-लिपि-चिह्न नहीं है। हिन्दी की बोलियो (व्रज, अवधी) आदि मे भी इनका व्यवहार होता है।

इन स्वरो के अतिरिक्त शेष स्वरो मे भी विकार होते है.

(३) अपभ्रश मे एक† स्वर के स्थान मे प्राय दूसरा स्वर आ जाता है।

उदाहरण—

अ = इ = कृपण = किविण

अ = उ = मनुते = मुणइ

अ = ए = वल्ली = वेल्लि

आ = अ सीता = *सीय

आ = उ = आर्द्र = उल्ल

आ = ए = मात्र = मेत्त, दा = देइ, ला = लेइ,

इ = अ = प्रतिपत्ति = पडिवत्त

इ उ—इक्षु = उच्छु

इ = इ = ए { बिल्व = वेल्ल / इत्थु = एत्था }

ई = { अ—हरीतिकी = हरडइ, / आ—काश्मीर = कम्हार / ऊ—विहीन—विहूण / ए—ईदृश—एरिस, वीणा = वेण / ऍ क्रीडा = खेँड्ड }

---

† स्वराणा स्वराः प्रायोऽपभ्रशे।

* स्त्रीलिग आकारान्त ईकारान्त शब्दो को ह्रस्व करने की अपभ्रश मे सामान्य प्रवृत्ति है।

'ज' को अपभ्रंश में 'य' हो जाता है, यादि=जाति, यमुना= जमुणा।

(४) *अपभ्रश मे मध्यम और असयुक्त क ख त थ औ प फ के स्थान मे क्रम से ग घ द ध व और भ होते है।

विक्षोभकर=विच्छोहगरु
सुखेन = सुघे
कथित = कधिदु
शपथ - सविधु
सफल = सभलु

आदि मे होने पर यह नियम नही लगता जैसे 'करेप्पिणु' मे आदि 'क' को ग नही हुआ। स्वर से परे यदि नही है तो भी नही होता जैसे मयङ्क मे ,क' स्वर से परे नहीं है, अत 'ग' नही हुआ। सयुक्त रहने पर भी यह नियम नही लगता—'एक्कहि अक्खिहि सावणु' यहाँ 'क' वर्ण सयुक्त है। शौरसेनी‡ प्राकृत मे त को द करने की प्रवृत्ति है, अपभ्रश मे भी यह प्रवृत्ति है, महाराष्ट्री प्राकृत मे मध्यम व्यञ्जन का लोप हो जाता है। उसमे †'क ग च ज त द प य और व के लोप का व्यापक नियम है अपभ्रंश मे भी मध्यम वर्ण के लोप करने की प्रवृत्ति है। यह स्वरीभवन, (Vocalization) कहलाता है।

जाति=जाइ, मदकल=मयगल इत्यादि।

---

* अनादौ स्वरादसयुक्ताना क ख तथ प फा ग घ दध बभा ८।४।३९६

‡ तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य

† क ग च ज त द प य वॉ प्रायोलुक्।

(५) §अपभ्रंश मे म्ह् के स्थान मे म्भ आदेश विकल्प से होता है। गिम्हो=गिम्भो। संस्कृत के द्म श्म ष्म और ह्म आदि संयुक्त व्यञ्जनो की जगह प्राकृत मे 'म्ह्' आदेश होता है। तथा अपभ्रंश मे प्राकृत के 'म्ह्' के स्थान पर म्भ आदेश होता है।

संस्कृत ब्रह्म का प्राकृत मे बम्ह् रूप बनता है, और बह्म का अपभ्रश मे आकर बम्भ हो जाता है।

ग्रीष्म का प्राकृत मे गिम्हो और अपभ्रंश मे गिम्भो होता है। विकल्प से होने के कारण—गिम्हो भी हो सकता है।

कुछ शब्दो मे दो स्वरो के बीच मे स्थित ख घ थ ध और फ भ को 'ह' हो जाता है।

शाखा=साहा, पृथुल=पहुल, अधर=अहर, मुक्ताफल=मुक्ताहल। कहो कही महाप्राण का त्याग भी कर दिया जाता है

जैसे—विक्षोभ=विच्छोह=विच्छोस।

ट=ड=तट=तड, कपट=कवड सुभट=सुहड

ठ=ढ=मठ=मढ, पीठ=वीढ

प=व=द्वीप=दीव, पाप=पाव

कुछ शब्दो मे महाप्राण होता है।

क=ख=क्रीड=खेलइ

कर्पर=खप्पर

नवकी=नोक्खि

त=थ=भारत=भारथ

वसति=वसथि

प=फ=स्पृशति=फंसइ

परशु=फरसु

---

§ म्हो म्भो वा।

मूर्धन्यभाव

दन्त्य व्यञ्जन के स्थान मे मूर्धन्य व्यञ्जन आता है।

त = ड = पतित = पडिउ

पताका = पडाय

थ = ठ = ग्रंथिपाल = गठिपाल

द = ड = दहति = डहइ

क्षुधित = खुडिय

दोलायते = डोलइ

दुष्कर = डुक्कर

ध = ढ = विदग्ध = वियड्ढ

विशेष परिवर्तन

छ—आदि 'छ' ज्यो का त्यो रहता है जैसे—छण्ण। दो स्वरो के बीच मे स्थित छ को च्छ होता है।

ज = य जानीम = याणिम, यह मागधी की प्रवृत्ति है। इसी प्रकार ज को व करने की प्रवृत्ति बोली विशेष मे हो सकती साहित्यिक अपभ्रंश मे इसका बहुत कम प्रयोग हुआ है। जैसे—व्रजति का वुव्वइ।

ड = ल = क्रीडा = कील, सोडश = सोलश, तडाग = तलाउ,
निगड = नियल, पीडित = पोलिय

त = ल = अतसी = अलसी, विद्युतिका = विज्जुलिया

य = ज = यमुना = जमुना यस्य = जसु

र = ल = चरण = चलण

व = य = प्रवृत्त = पयट्ट

श = स = देश

प = { छ = पप् = छ'
ह = पाषाण = पाहान

संयुक्त व्यञ्जन

(१) आदि संयुक्त व्यञ्जन मे यदि दूसरा व्यञ्जन य र ल व हो तो उसका लोप हो जाता है।

य = ज्योतिषिन् = जोइसिउ
व्यापार = वावारउ
व्यामोह = वामोह

र = { क्रीड़ा = कील
प्रेमन् = पेम्म

व = { स्वर = सर
द्वीप = दीव

नीचे लिखे संयुक्त व्यञ्जनो का अपभ्रंश मे प्रयोग होता है।

(१) समान व्यञ्जनो का संयुक्त प्रयोग—मुक्क वुत्त इत्यादि।

(२) सोष्म संयुक्त व्यञ्जन = अक्खर, अच्छ, अत्थ सब्भाव

(३) ण्ह, म्ह, ल्ह, कण्ह, वम्ह, पल्हत्थ इत्यादि।

क्ष = { ख = क्षार = खार, क्षपणक = खवण
छ = क्षण = छण
झ = क्षीयते = झिज्जइ
घ = क्षिप्त = घित्त
क्ख = कटाक्ष = कडक्ख
ह = निक्षिप्त = निहित्त

त्य = च्च = अत्यन्त = अच्चंत
थ्य = च्छ = मिथ्यात = मिच्छत्त
द्य = ज्ज = अद्य = अज्जु

जन्म = जम्म मध्य = मज्झ

आवश्यकता के अनुसार अपभ्रंश मे संधि होती भी है और नही भी होती। उद्वृत स्वर के रहते संधि नही होती, पर इसका अपवाद भी मिलता है, व्यञ्जन लुप्त होने पर अवशिष्ट स्वर को उद्वृत स्वर कहते है, मधुकर और वकुल से मधुअर और वउल रूप वनते हैं, उनमे क्रमश. अ और उ उद्वृत स्वर है, इसकी कहीं संधि हो जाती है, जैसे अंधकार के अंधआर और अधार रूप होते है, य और व की श्रुति (Glide) भी होती है।

य = केदार = केआर = केयार

व = सुभग = सुहव

सम्प्रसारण से भी ध्वनि मे विकार हो जाता है।

य = इ = तिर्यच = तिरिच्छ

व = उ = विद्वस् = विउस

नाम = णाव = नाउ

देवल = देउल।

ध्वनि धर्म

उच्चारण की अपूर्णता और प्रयत्न लाघव के कारण ध्वनि मे विकार होना स्वाभाविक है, जो विकार सभी भाषाओ मे न्यूनाधिक मात्रा मे सदैव पाए जाते है—उनकी मीमासा ध्वनिधर्म के अन्तर्गत की जाती है, ध्वनिधर्म, (Phonetic Phenomena) बहुत कुछ भाषा के प्राकृतिक कारण पर आश्रित है, जब कि ध्वनि-नियम देश, काल और परिस्थिति से सबंध रखते हैं। वस्तुत. इन्हे ध्वनिनियम न कहकर—भाषा की विशेष प्रवृत्ति कहना अधिक संगत है, ध्वनिनियम के विश्लेषण मे तीन बातो का विचार रखना पड़ता है।

(१) किस भाषा मे (२) किस काल मे और (३) किस सीमा तक उनकी व्याप्ति है। उदाहरण के लिए ग्रिमनियम जर्मन भाषाओ से संबंध रखता है, वह भी ई० पू० ७ वीं सदी मे इसकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह भाषा की विशेष प्रवृत्ति है, जो परिस्थिति विशेष मे घटित होती है और इस परिस्थिति मे इस प्रवृत्ति का विश्लेषण करना ही इसे नियम का स्वरूप देना है। ध्वनिधर्म भाषा की शाश्वत् प्रवृत्तियां है, जो अपने स्वाभाविक कारणो से होती रहती है।* पाणिनि शिक्षा मे वर्णागम वर्णविपर्यय वर्णविकार वर्णनाश और अर्थातिशय का उल्लेख है। इनमे अर्थातिशय-अर्थ-विचार के अन्तर्गत आता है, शेष बाते ध्वनि से सम्बन्ध रखती है, अपभ्रंश मे इनके उदाहरण देखिए।

(१) वर्णागम मे किसी ध्वनि का आगम होता है, चाहे स्वर हो, या व्यञ्जन। इसके तीन भेद है, आदिवर्णागम, मध्य-वर्णागम और अन्त्यवर्णागम।

आ० वर्णागम (Prothesis)—स्त्री = इत्थि

मध्यवर्णागम—(व्यञ्जन) व्यास = व्रासु

दृष्टि = द्रेहि

मध्य मे स्वर के आगम को स्वरभक्ति (Anaptysix) कहते है।

श्मशान = समासण

श्लाघते = सलहइ

दीर्घ = दीहर

आर्य = आरिय

---

* "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ, धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविध निरुक्त"।

क्लेश = किलेश
अमर्ष = अमरिष
वर्ष = वरिस

स्वरभक्ति का भेद ही अपनिहिती (Epenthesis) है, जिस शब्द के अंत मे इ, ए, उ या ओ हो तो बीच मे इ या उ का आगम होता है, और वह तीसरे स्वर को बदल देता है।

वल्लि = वल्ल + इ, इस स्थिति मे ल्ल के पहले इ का आगम होने पर व + इ + ल्ल + इ रूप हुआ, गुण करने पर 'वेल्लि' रूप बनता है।

ब्रह्मचर्य = बम्म च + र् + इ (य को सम्प्रसारण)
= बम्म च + इ + र् + इ (इ का आगम)
= बम्मचेर (गुण)

वर्ण विपर्यय (Metathesis)

गृह् = हर
हर्ष = रहस
दह् = ह्रद

वर्णविकार

वर्णविकार मे दो समीपवर्ती ध्वनियाँ एक दूसरे के अनुरूप या प्रतिरूप बदल जाती हैं, इसे सावर्ण्यभाव (Assamilation) और असावर्ण्यभाव = (Disassamilation) कहते है, पूर्वसावर्ण्य-भाव = (Progressive Assamilation) और (Regressivl Assamilation)

परसावर्ण्यभाव

युक्त = जुत्त
रक्त = रत्त

मुग्ध = मुद्ध
शब्द = सद्द
उत्पल = उप्पल

पूर्वसावर्ण्यभाव

अग्नि = अग्गि
सपत्नी = सवत्ति
युग्म = जुग्ग

पूर्वअसावर्ण्यभाव

सहस्र = सहास
नूपुर = णेउर

वर्ण लोप के तीन भेद है, आदि मध्य और अंतिम वर्ण लोप।

आदि वर्ण लोप (Aphaerasis)

अधस्तात् = इट्ठा
अपि = वि
इव = व
अवलग्न = वलग्ग
उपरि = वरि
अरण्य = रण्ण

मध्यवर्ण लोप (Syncope)

पूगफल = पोप्फल
अन्तस्वरलोप (Epicope)
रामेण = रामे

अक्षर लोप (Haplology)

भविष्यदत्त कथा = भविसत्तकहा

विशेष प्रवृत्ति

द्वित्व

(क) अनुनासिक व्यञ्जन या अन्तस्थ वर्णों (य र ल व) से अन्तःस्थ वर्ण परे हो तो पूर्व को द्वित्व हो जाता है

न + य = कण्णा = कन्या

ल + य = कल्ल = कल्य

व + य = कव्व = काव्य

र + व = सव्व = सर्व

र + ल = दुल्लिलित = दुर्ललित

(ख) सामान्य व्यञ्जन से अन्तःस्थ परे रहते, सामान्य को द्वित्व होता है।

क + य = वक्क = वाक्य

क + र् = चक्क = चक्र

प + ल = विप्पव = विप्लव

क + व = पिक्क = पिक्व

रूपविचार

(MorPhology)

भाषा की अवयुति वाक्य है, वाक्य से ही भाषा शुरु होती है। वाक्य के खंड को पद कहते है, पद वाक्य में तभी प्रयुक्त होते है जब वे अन्वय योग्य साकांक्ष और आसन्न हो। साधारणतया पद का ज्ञान सभी को होता है, परन्तु प्रकृति और प्रत्यय का विश्लेषण करना भाषाविज्ञानी और वैयाकरण का काम है। पद मे दो अंश रहते है प्रकृति और प्रत्यय। प्रकृति अर्थ तत्त्व को सूचित करती है, और प्रत्यय सम्वध तत्त्व को। यह प्रकृति दो प्रकार की है, प्रातिपदिक Stem औरधातु Root इन्ही मे प्रत्यय लगाकर पदो की रचना की जाती है। शब्द रूपो को सुवन्त कहते है और धातु रूपो को तिङन्त। यहाँ सुवन्त रूपो का विचार किया जायगा। अपभ्रंश के शब्द और क्रिया रूप, पाली और प्राकृत दोनो से अपेक्षाकृत सरल है, द्विवचन और सम्प्रदान की विभक्ति का अभाव पाली और प्राकृतकाल मे ही हो गया था। अपभ्रंश मे कर्ता कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियो का लोप व्यापक रूप से होने लगा, पाली के शब्दरूपो मे सस्कृतरूपो की छाया स्पष्ट देख पड़ती है, पर अपभ्रंश रूपों मे यह बात नही। इकारान्त उकारान्त और हलन्त शब्दो को अकारान्त बनाने की प्रवृत्ति इस काल मे विशेष रूप से दिखाई देती है।

संस्कृत		अपभ्रंश
बाहु	=	बाह बाहा
स्वसृ	=	सस
भ्रातृ	=	भायर
मनस्	=	मन
जगत्	=	जग्
युवन्	=	जुव्वाण
आत्मन्	=	अप्प

इसी प्रकार स्त्रीलिंग में आकारान्त और इकारान्त शब्दों को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति है।

संस्कृत	=	अपभ्रंश
वीणा	=	वीण
वेणी	=	वेणि
मालती	=	मालइ
प्रतिमा	=	पडिम
पूजा	=	पुज्ज
सिकता	=	सियय
क्रीडा	=	कील

आकारान्त को इकारान्त भी कर देते है।

निशा	=	निशि
कथा	=	कहि

आधुनिक हिन्दी मे निशि निशि, और दिशि दिशि रूप अपभ्रंश से आए।

(१) अपभ्रंश मे [1]कर्ता और कर्म के एक वचन मे अकारान्त शब्द के अंतिम अ को 'उ' होता है।

दशमुख = दहमुहु
राम = रामु
देव = देवु

(२) अपभ्रंश मे कर्ता के एकवचन[1] मे अकारान्त संज्ञा के अंतिम 'अ' को पुलिग मे 'ओ' विकल्प से होता है।

'जो मिलइ सहि सो सोक्खह ठाउँ' मे जो सो' रूप इसी नियम के अनुसार हुए, दूसरे पक्ष मे जु सु भी हो सकते है। यह नियम पुलिग शब्दो मे लगता है, अत नपुंसिकलिग मे ओकारान्त रूप नही होते।

(३) अपभ्रंश मे करण[2] के एक वचन मे अ को 'ए' होता है, दइए—

(४) अपभ्रंश मे करण[3] के एक वचन मे 'ण' और अनुस्वार दोनो होते है इस प्रकार तीन रूप बनते है।

देवे, देवं, देवेण, (देविण)

(५) करण और अधिकरण के बहुवचन[4] मे हि होता है—देवहि।

(६) करण के बहुवचन[5] मे विभक्ति परे रहते—संज्ञा को एकार विकल्प से होता है। 'देवेहि'

(७) अपादान[6] के एक वचन मे 'हे और हु' ये दो प्रत्यय होते है। वच्छहु वच्छहे=वृक्ष से,

(८) अपादान[7] के बहुवचन मे हु होता है। वच्छहुं=वृक्षो से,

---

१ सौ पुंस्योद्वा २ एट्टि ३ आट्टोणानुस्वारौ ४ भिस्सुपोर्हि ५ भिस्येद्वा ६ ङसेर्हेहुः ७ भ्यसोहु।

(६) सम्बन्ध[1] के एक वचन में 'सु' 'हो' स्सु होते है। देवसु देवहो देवस्सु = देव का।

(१०) सम्बन्ध[2] के बहुवचन मे (हं) होता है। देवह = देवो का।

(११) अधिकरण[3] के एक वचन मे इ और ए आदेश होते है देवि, देवे,

(१२) करण[4] और अधिकरण के बहुवचन मे 'हिं' होता है। देवहि।

(१३) कर्ता[5] और कर्म की विभक्तियो का अपभ्रंश मे विकल्प से लोप हो जाता है।

देव, देवा,

(१४) सम्बन्ध[6] की विभक्ति का भी विकल्प से लोप होता है गय कुम्भहं = गजो के गण्डस्थलो को।

(१५) सम्बोधन* के बहुवचन मे विभक्ति का लोप न होकर उसके स्थान मे 'हो' आदेश होता है

'तरुणहो'

इस प्रकार अकारान्त पुलिग शब्दो के विभिन्न विभक्तियो मे निम्न रुप हुए

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	देव देवा देवु देवो,	देव देवा
कर्म	देव देवा देवु	देव देवा
करण	देवे देवे देवेण (देविण)	देवहि देवेहि
अपादान	देवहे, देवहु	देवहुँ

---

१ ङसः सुहोस्सव. २ आमोह ३ ङिनेच ४ भिस्सुपोर्हि ५ 'स्यम्जस्शसालुक्। ६ पष्ठ्याः *आमन्त्र्येजसोहोः।

सम्बन्ध—देव, देवसु देवहो देवस्सु   देव देवहं
अधिकरण—देवे देवि   देवहि
सम्बोधन—देव देवा देवु देवो   देव देवा देवहो

संज्ञा के[1] अंतिम स्वर को विकल्प से दीर्घ होता है, इसलिए सभी विभक्तियो मे एक रुप और होता है, कर्ता और कर्म मे ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। अपादान के एक वचन मे देवाहे देवाहो और वहुवचन मे 'देवाहुँ' रुप भी होते है। इसी प्रकार अन्य विभक्तियो, में भी समझना चाहिए।

इकारान्त उकारान्त पुलिग शब्दो के रूपो मे अकारान्त शब्दो के रूपो से विशेप अंतर नही है।

(१) कर्ता और कर्म मे एक समान रूप हैं।

गिरि, गिरी, गिरि, गिरी,

(२) करण[2] के एकवचन मे ए अनुस्वार और ण, ये आदेश होते है।

गिरिएं, गिरि, गिरिण।

(३) करण के वहुवचन 'हि' ज्यो का त्यो है।

गिरिहि, गिरीहि,

(४) अपादान के एकवचन 'हे' आदेश होता है।

गिरिहे,

(५) अपादान के वहुवचन मे ज्यो का त्यो; अकारान्त की तरह रूप है।

गिरिहुँ,

(६) सम्वन्ध मे विभक्ति के लोप वाला एक ही रूप है।

गिरि, गिरि

---

१ 'स्यादौदीर्घह्रस्वौ' २ ए चेदुतः

(७) सम्बन्ध† के वहुवचन मे 'हं' और 'हु' होते है।
गिरिहं, गिरीहु, गिरि, गिरी,

(८) अधिकरण के एकवचन मे 'हि' होता है।
गिरिहि।

(९) अधिकरण‡ के वहुवचन मे 'हु' आदेश होता है।
गिरिहु।

(१०) इकारान्त शब्दो के सम्बोधन में केवल अकारान्त शब्द के उ और ओ वाले रूप नही होते।
गिरि गिरी, गिरि गिरिहो

अकारान्त शब्दो की अपेक्षा इकारान्त और उकारान्त शब्दो के रूपो मे वहुत कमी है, कर्ता और सम्वन्ध के एकवचन के रूप इनमे कम है। अन्य विभक्तियो मे भी समानता है। जैसे—

	एकवचन	वहुवचन
कर्ता	गिरि गिरी	गिरि गिरी
कर्म	गिरि गिरी	गिरि गिरी
करण	गिरिएँ गिरिण गिरि	गिरिहिं
अपा०	गिरिहे	गिरिहु
सम्वन्ध	गिरि गिरि	गिरिह गिरिहु
अधि०	गिरिहि	गिरिहु
सम्वो०	गिरि गिरी	गिरि गिरी गिरिहो

अंतिम 'इ' को दीर्घ करने से सभी विभक्तियो मे एक रूप और वनता है। यह अपभ्रंश की सामान्य प्रवृत्ति है, जो सभी जगह काम करती है।

---

† हुँ चेदुद्भ्या ‡ स्यम् जस्शसो लुक।

नपुंसक लिंग

अपभ्रंश के नपुंसक लिग मे कर्ता और कर्म के रूपों में कुछ भिन्नता है, शेप विभक्तियो मे पुलिग शब्दो के रूपो की तरह रूप समझना चाहिए।

(१) कर्ता और कर्म[1] के बहुवचन मे नपुसकलिग में 'इं' आदेश होता है।

कमलु, कमलइं, कमलाइं,

(२) क[2] प्रत्ययान्त शब्दो को, कर्ता और कर्म के एक वचन मे उं आदेश होता है।

तुच्छक = तुच्छउं

इस प्रकार नपुंसक लिग मे रूप हुए—

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	कमलु, कमला, कमल,	कमलइं कमलाइं,
कर्म	कमलु, कमला, कमल,	कमलइं कमलाइं

शेप विभक्तियो मे पुलिग की तरह रूप चलते है।

स्त्रीलिंग

(१) अपभ्रश[3] मे स्त्रीलिग शब्दो को कर्ता और कर्म के बहु वचन मे उ और ओ आदेश होते है।

मुग्धा = मुद्धाउ मुद्धाओ

(२) करण[4] के एक वचन मे 'ए' आदेश होता है।

मुद्धए

(३) करण के बहु वचन मे 'हि' आदेश होता है।

मुद्धाहि

---

१ "क्लीवे जस्शसोरिं" २ "कान्तस्योत्" ३ "स्त्रिया जस्शसोरुदोत्
४ "टए"

(४) अपादान[१] और सम्बन्ध के एक वचन मे 'हे' आदेश होता है।

मुद्धहे

(५) अपादान[२] और सम्बन्ध के बहुवचन मे 'हु' आदेश होता है।

मुद्धहु

(६) अधिकरण[३] के एक वचन मे 'हि' आदेश होता है।

मुद्धहि,

(७) अधिकरण के बहुवचन मे 'हि' होता।

मुद्धहि

इस प्रकार निम्न रूप हुए।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	मुद्ध मुद्धा	मुद्ध मुद्धा मुद्धाउ मुद्धाओ
कर्म	,, ,,	,, ,, ,, ,,
करण	मुद्धए	मुद्धहि
अपा०	मुद्धहे	मुद्धहुं
सम्बन्ध	,,	,,
अधि०	मुद्धहि	मुद्धहि
सम्बो०	मुद्ध मुद्धा	मुद्ध मुद्धा मुद्धहो मुद्धाहो

कर्ता और कर्म के रूपो की तरह शेष विभक्तियो मे दीर्घ रूप भी होते है जैसे करण के एकवचन मे मुद्धाए और बहु वचन मे मुद्धाहि।

यदि तीनो लिगो मे अकारान्त इकारान्त और उकारान्त शब्दो के रूपो को देखा जाय तो अधिक अन्तर नही मिलेगा। नपुसक

---

१ "ङस्ङस्योर्हे २ भ्यसामो हुं ३ ङेर्हि।

लिग के कर्ता और कर्म के बहुवचन मे 'इं' आदेश होता है, शेप रूप पुलिग की तरह चलते है। नपुंसक और स्त्रीलिग मे पुलिग की तरह इकारान्त उकारान्त शब्दो के अलग अलग रूप नही होते। अपभ्रंश के विभक्ति-रूपो पर ध्यान देने से यह बात विशेप रूप से दिखाई देती है कि सस्कृत की तरह उसकी प्रकृति मे विकृति बहुत कम आती है, और जो कुछ विकृति आती है वह ह्रस्व दीर्घ के कारण। संस्कृत मे एक ही देव शब्द, विभिन्न कारको मे देव, देवेन देवात् देवे देवानां, आदि अनेक रूप धारण करता है, परन्तु अपभ्रंश मे देवे, देवे देवि, (करण और अधिकरण) को छोड़कर, शेप विभक्तियो के रूपो मे, प्रकृति मे विकृति नही आती। विभक्ति संयोगावस्था मे होते हुए भी प्रकृति और प्रत्यय का स्वरूप स्पष्ट झलकता है। संक्षेप मे तीनो लिगो के विभक्ति चिह्न इस प्रकार है, शून्य, विभक्ति के लोप का चिह्न है।

पुलिंग अकारान्त

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	० उ, ओ	०
कर्म	० उ	०
करण	ए एं ण	हि, एहि
अपा०	हे, हु,	हु
सम्बन्ध	० सु हो स्सु	० हं
अधि०	इ, ए,	हि
सम्बो०	० उ, ओ	० हो

पुलिङ्ग इकारान्त उकारान्त शब्दों के विभक्ति चिन्ह

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	०	०

कर्म	०	०
करण	ए, ण, ँ,	हिं
अपादान	हे	हुँ
सम्बन्ध	०	० हं हु
अधि०	हि	हुं
सम्बोधन	०	० हो

नपुंसक लिङ्ग के विभक्तिचिन्ह

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	०	० इं
कर्म	०	० इं

शेष पुलिङ्ग की तरह।

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	०	० उ, ओ
कर्म	०	० ,, ,,
करण	ए	हि
अपा०	हे	हु
सम्बन्ध	हे	हु
अधि०	हि	हि
सम्बोधन	०	० हो

ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि अपभ्रंश मे हलन्त और इकारान्त शब्दो को अकारान्त बनाने की व्यापक प्रवृत्ति है। ऋकारान्त 'शब्द' को भी इकारन्त या अकारान्त बना लिया जाता है। उदाहरण के लिए पितृ शब्द के सात-आठ रूप सम्भव है :—पिअ, पिद, पिइ, पिउ, पिदु, पिअर और पिदर। इनमे

पिअ पिद और पिअर के देव शब्द की तरह रूप समझना चाहिए, और शेष के गिरि की तरह। यदि ऋकारान्त शब्द नपुंसकलिंग का है तो नपुंसक के रूपों की तरह रूप चलेंगे।

पूषन् (सूर्य) आदि शब्दों के रूप, पूस या पूसण प्रकृति बनाकर चलते है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पूसु, पूसो, पूस, पूसा पूसाणु पूसाणो, पूसाण पूसाणा	पूस पूसा पूसाण पूसाणा
कर्म	"	"

शेष रूप, देव शब्द की तरह समझना चाहिए।

सर्वनाम

(Pronoun)

(द्वितीय पुरुष)

तुम (युष्मद्) शब्द के अपभ्रंश में निम्नरूप होते हैं।

	एकवचन	वहुवचन
कर्ता	तुहु	तुम्हे तुम्हइ
कर्म	पइ, तइ,	,, ,,
करण	,, ,,	तुम्हेहि
अपा०	तउ तुज्झ तुध्र	तुम्हह
सम्वन्ध	,, ,, ,,	,,
अधि०	पइ तइ	तुम्हासु

(प्रथम पुरुष)

मै (अस्मद्) के रूप।

	एकवचन	वहुवचन
कर्ता	हउ	अम्हे अम्हइ
कर्म	मइ	,, ,,
करण	,,	अम्हेहि
अपा०	महु मज्झु	अम्हह
सम्वम्ध	,,	,,
अधि०	मइं	अम्हासु

तुम और मै के रूपों मे 'अम्ह' और तुम्ह' तत्त्व अधिकांश रूपो में सामनरूप से मिलता है, बहुवचन के रूपो मे अधिक विरूपता नही है। कर्ता कर्म करण और अधिकरण के एक वचन मे दोनो शब्दो के एक से रूप होते हैं, अपादान और सम्बन्ध के दोनो वचनो के रूप समान है कर्ता और कर्म के बहुवचन के रूप भी समान है।

(अन्य पुरुष)

सव्व = सव, सव (संस्कृत)

अपभ्रंश* मे सर्व शब्द को विकल्प से 'साह' आदेश होता है।

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सव्वु सव्वो सव्व	सव्वे सव्व सव्वा
कर्म	सव्वु सव्व सव्वा	सव्व सव्वा
करण	सव्वेण सव्वे	सव्वेहि [सव्वेसि]
अपा०	सव्वहां सव्वाहां	सव्वहु सव्वाहुं
सम्बन्ध	सव्वसु, सव्वस्सु सव्वहो सव्व, सव्वा	सव्वहं सव्व सव्वा
अधि०	सव्वहि	सव्वहि

इसी प्रकार 'साह' के रूप समझना चाहिए। 'साह' आदेश अपभ्रंश मे ही होता है, प्राकृत मे नही।

सर्वनाम| शब्दो के रूपो मे अपादान के एकवचन मे, 'हॉ', और अधिकरण|. के एकवचन मे 'हि' आदेश होते है, शेष रूप प्रायः अकारान्त पुलिङ्ग शब्दो की तरह होते है।

नपुसक लिंग

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	सव्वु सव्व सव्वा	सव्वइं सव्वाइ
कर्म	" "	" "

---

* सर्वस्य साहो वा । सर्वादेर्ङसेर्हां । ङेहि

शेष पुलिङ्ग की तरह। स्त्रीलिङ्ग मे भी आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द की तरह रूप होते है।

यह (एतद्)

यह (एतद्)[1] शब्द के लिए, अपभ्रंश के तीनो लिगो मे क्रमश कर्ता और कर्म[2] के एकवचन मे 'एह एहो एहु' और वहुवचन मे[2] 'एई'—आदेश होता है।

		एकवचन	वहुवचन
पुलिग—	कर्ता	एहो	एइ
	कर्म	"	"
स्त्रीलिग—	कर्ता	एह	एईउ एहाउ
	कर्म	"	" "
नपुसकलिग—	कर्ता	एहु	एइइं एईइ एहाइं
	कर्म	"	" "

शेष रूप 'सव्व' की तरह जानना चाहिए। वह (अदस्) शब्द के अर्थ मे अपभ्रश मे कर्ता और कर्म केवहुवचन मे 'ओइ'[3] आदेश होता है—

"वड्डा घर ओइ" = वे वड्डे घर

सर्वनाम से वननेवाले विशेषण (प्रत्येक के दो रूप वनते हैं)

(१) परिणामवाचक विशेषण

जितना	जेवड्डु[4]	जेत्तुल[5]
कितना	केवड्डु	केत्तुल

१ एतदः स्त्री पुक्लीवे एह एहो एहु २ एईर्जस्शसो. ३ अदस ओइः ४ वायत्तदोतोर्डेवडः ५ वेदकिभोर्यादे॰।

उतना	तेवडु	तेत्तुल[1]
इतना	एवडु	एत्तुल

(२) गुणवाचक विशेषण (प्रत्येक के दो रूप)

जैसा	जइसो[2]	जेहु[3]
तैसा	तइसो	तेहु
कैसा	कइसो	केहु
ऐसा	अइसो	एहु

सम्बन्ध वाचक

इस जैसा = एरिस

तुम्हारा जैसा = तुम्हारिस

हमारा = हम्हारिस

तुम्हारा[4] हमारा अर्थ मे अपभ्रश मे तुम्ह अम्ह शब्द से डार प्रत्यय होता है, 'ड का लोप होने पर' तुम्हारा हम्हार रूप बनते है।

'हेम तुम्हाला कर मरउं'

स्थान वाचक अव्यय

यहा	एत्थु[5]	
जहां	जेत्थु	जत्तु
तहा	तेत्थु	तत्तु
कहां	केत्थु[6]	

'यहां वहां' इस अर्थ मे डेत्तहे आदेश होता है।

एत्तहे[7] तेत्तहे = यहा वहां

---

१ अतोडेत्तुल. २ अता डइसः ३ यादृक्तादृक्की दृगीदृशा दादेर्डेहः ४ युष्मदादेरीयस्य डार' ५ यत्र तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थ्वत्तु ६ एत्थु कुत्रात्रे ७ त्रस्य डेत्तहे

केत्तहे = कहां, तेत्तहे = तहां

जहि कहि तहिं—आदि सप्तम्यन्तरूप भी अव्यय के समान प्रयुक्त होते है।

समय वाचक अव्यय

जब तक—जामहि,[१] जाम, जाउ

तब तक—तामहि, ताम, ताउं

तब से (तत') = तो

रीति वाचक अव्यय

जिस प्रकार—जेम,[२] जिम, जिह, जिध।

किस प्रकार—केम्म, किम, किह, किध।

तिस प्रकार—तेम, तिम, तिह, तिध।

अपभ्रंश के विशेष कार्य

अपभ्रंश[३] मे अनादि मे स्थित असंयुक्त 'म' को विकल्प से अनुनासिक 'व' होता है।

कमलु = कवलु

भमरु = भवँरु

संयुक्त अथवा आदिमे रहने पर नहीं होता, जैसे जम्मु और मयणु। लाक्षणिक प्रयोगो मे भी यह नियम लगता है जिम = जिवँ, तिम = तिवँ, जेम = जेवँ, तेम = तेवँ इत्यादि।

सम्बन्धीसर्वनाम—जो (यत्)

		एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पु०	जु जो	जे
	स्त्री०	जा	जाउ

---

१ यावत्तावतोर्वादेर्मउं महिं २ "कथं यथा तथा थादे रेमेमेहेधा डितः" ३ मोनुनासिको वा।

	नपु०	जं ध्रं[1]	जाइं
कर्म	पु०	जं	जे
	स्त्री०	जं	जाउ
	नपु०	जं जु	जाइं
करण	पु०	जेण जि जे	जेहि
	स्त्री०	जाइं, जाएँ जिए,	जेहि
अपा०	पु०	जउ जहे	जहु
	स्त्री०	जाहे	जाहि
सम्बन्ध	पु०	जासु[2] जसु जस्स जहो जहे,	जाहं जाह
	स्त्री०	जाहि.	जाहि
अधि०	पु०	जहि, जम्मि	जहि
	स्त्री०	जाहि	जाहि

निर्देशवाचक—वह=(तद्)

		एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पु०	सो सु स	ते
	स्त्री०	सा, स,	ताउ, ति
	नपुं०	तं तु	ताइं
कर्म	पु०	तं	ते
	स्त्री०	तं	ताउ
	नपु०	तं त्र,	ताइं
करण	पु०	तेण तइ ते ति	तेहि ताहं तेहि
	स्त्री०	तइं, तिए, ताए, तए	तेहि,
अपा०	पु०	तहे तउ	तहु

१ 'यत्तदः स्यमो ध्रं त्रं' २ 'यत्तत्किम्योः डासुर्नवा'

	स्त्री० ताह, तहे,[1]	ताहि
सम्बन्ध	पु० तासु तहो	तहु
	{ तहि तसु तहु तहि	
	स्त्री० { तिह ताहि तहे	ताहि
अधि०	पु० तहि, तहि	तहि
	स्त्री० तहि तहि	ताहि

प्रश्नार्थ सर्वनाम—क्या, कौन (किम्)

किम् के लिए- अपभ्रंश मे[2] काइ और कवण आदेश विकल्प से होते है। इस तरह- क, काइ और कवण इन तीन से विभक्ति लगाई जा सकती है। क के रूप

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता-कर्म	पु० को कु	के
	स्त्री० का क	कायउ काउ
	नपु० कि	काइ
करण	पु० केण कइ	केहि
	स्त्री० काइ काए	केहि काहि
अपा०	पु० कउ किहे कहा	कहु
	स्त्री० काहे	काहि
सम्बन्ध	पु० कहो कहु कस्स कासु	काह
	स्त्री० काहि काहि	काहि
अधि०	पु० कहि कहि	कहि
	स्त्री० काहि	काहि

१ 'स्त्रियाडहे' २ किमः काइ कवणौ वा।

कवण के रूप सव्व की तरह, और काइ के इकारान्त की तरह चलते है। किं और काइं का अव्यय की तरह भी प्रयोग होता है।

यह

यह (इदम्) को अपभ्रंश मे "आय"[१] होता है। तीनों लिङ्गो मे 'सव्व' की तरह आय के रूप होते है केवल नपुंसक लिंग मे कर्ता और कर्म के एक वचन मे[२] 'इमु' होता है।

पुलिंग

	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	आयु आयो आय आया	आये आय आया
कर्म	आयु आय आया	आय आया

नपुंसक

कर्ता	इमु	आयाइं आयइ
कर्म	इमु	" "

अव्यय

(१) अपभ्रंश मे[३] एवं (ऐसा ही) परं (पर) समं (समान) ध्रुवं (निश्चय ही) मा (निषेधार्थक) मनाक् (थोड़ा) शब्दो के स्थान मे क्रमश. एम्व पर, समाणु, ध्रुवु म और मणाउं आदेश होते है। जैसे—

निद न एम्व न तेम्व=नीद न ऐसे ही, न वैसे ही (आती है।) गुणहि न सम्पय कित्ति पर=गुणो से सम्पत्ति नहीं परन्तु

---

१ इदमः आयः २ इदम. इमु क्लीवे। ३ एव पर सम ध्रुव मा मनाक् एम्व पर समाणु ध्रुवु म मणाउ।

(३) (यहां से) इतः = एत्तहे—एत्तहे मेह पिअन्ति जलु

(४) अपभ्रंश मे विषण्ण (खिन्न) उक्त और वर्त्म (मार्ग) शब्दों के स्थान मे क्रमशः वुन्न वुत्त और विच्च आदेश होते है।

विषण्ण = वुन्नउ—एम्वइ वुन्नउ काइं ?

उक्त = वुत्त—मइं वुत्तउं ?

वर्त्म = विच्च—जं मणु विच्चि न माइ।

(५) अपभ्रंश में[1] अधः स्थित रेफ का विकल्प से लोप हो जाता है प्रिय = पिउ, दूसरे पक्ष मे 'प्रियेण' रूप भी होगा।

(६) अपभ्रंश[2] मे कही कही रेफ का आगम हो जाता है।

जैसे—व्यास = व्रासु, रेफ का आगम न होने पर वासु रूप भी बनता है।

(७) अपभ्रंश[3] मे आपद् विपद् और सम्पद् शब्दो के 'द्' के स्थान मे विकल्प से 'इ' होती है = आवइ, विवइ, संवइ। दूसरे पक्ष मे 'सम्पय रूप सिद्ध होता है। 'गुणहिं न सम्पय कित्ति' पर'।

(८) अपभ्रंश[4] मे परस्पर शब्द के आदि में 'अ' का आगम होता है 'अवरोपरु' = परस्पर = आपस में।

(९) अपभ्रंश[5] मे अन्यथा शब्द के स्थान मे 'अनु' आदेश विकल्प से होता है। अनु = नही तो। दूसरे पक्ष मे 'अन्नह' रूप होगा।

(१०) अपभ्रंश[6] मे कुतः (कहां) के स्थान में कउ और कहन्तिहु आदेश होते है।

धूमु कहन्तिहु उट्ठिअओ = धूम कहां से उठा ?

कउ झुम्पड़ा वलन्ति = झोपड़ी कहां से जल रही है ?

---

१ वाधो रो लुक् २ अभूतोऽपि क्वचित् ३ 'आपद्विपत्सम्पदा द इः' ४ परस्परस्यादिरः ५ वान्यथोऽनुः ६ 'कुतसः कउ कहन्तिहु:'

भाववाचक[1] संज्ञा बनाने के लिए अपभ्रंश मे प्पणु और तण प्रत्यय आते है।

वड्डप्पणु } = वड़प्पन
वड्डत्तणु }

हिन्दी का भाववाचक 'पन' अपभ्रंश से ही आया है। इसी प्रकार मुखड़ा दुखड़ा दिन दहाड़े– प्रभृति शब्दो मे 'ड़' स्वार्थिक-प्रत्यय अपभ्रंश की ही देन है, राजस्थानीभाषा में यह प्रवृत्ति अधिक है।

अपभ्रंश मे[2] स्त्रीलिंग बनाने के लिए डी और डा प्रत्ययो का उपयोग किया जाता है।

यथा—गोरडी धूलडिआ[3]

आधुनिक हिन्दी मे भी स्त्रीलिंग बनाने मे अधिकतर 'ई' का उपयोग होता है।

स्वार्थिक प्रत्यय

अपभ्रंश[4] मे पुन और बिना शब्द से स्वार्थ मे 'डु' प्रत्यय होता है 'उ' का लोप होने पर पुणु और विनु रूप बनते है।

विनु जुज्झे न वलाहुं,
जहि पुणु सुमरणु जाउं गउ,

अपभ्रंश[5] मे 'अवश्य' शब्द से स्वार्थ मे डें और ड प्रत्यय होते हैं। इस प्रकार क्रमशः अवसें और अवस रूप बनते है।

अवसे सुक्कइं पण्णइं
अवस न सुअहि सुहच्छिअहिं

---

१ त्वतलो. प्पणुः २ "स्त्रिया तदन्ताड्डी" "अन्तान्ताड्डाः" ३ धूलडिआ में उ "अ" को इ आदेश "अस्येदे" इस विशेषनियम से होता है ४ 'पुनविनः स्वार्थेडुः' ५ अवश्यमो डे डौ

अपभ्रंश[1] में 'एकश' शब्द से स्वार्थ में 'डि' प्रत्यय होता है, एकश. = एकसि,

'एकसि सीलकलंकिअहं देज्जहि पच्छित्ताइं,

अपभ्रंश[2] में संज्ञा से परे, स्वार्थ में 'अ' डड, और डुल्ल प्रत्यय होते हैं, तथा स्वार्थिक 'क' प्रत्यय का लोप भी होता है। इनके[3] आपसी योग से भी स्वार्थिक प्रत्यय बनते हैं, अतः कुल प्रत्यय इस प्रकार हुए।

अ — पथिउ

डड— महु कन्तहो वे दोसडा

डुल्ल— एक कुडुल्ली पचहि रुद्धी

डड + अ = फोडेन्ति जे हिअडउं अप्पणउं

डुल्ल + अ = चुडुल्लउ चुन्नी होइसइ,

डुल्ल + डड = पेक्खिवि बाहु वलुल्लडा

लिंग विचार

अपभ्रंश[4] में लिंग की अव्यवस्था है, तीनों लिंगों का एक दूसरे में बदलना साधारण बात है। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) 'अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं' में अभ्रं नपुंसकलिंग का अब्भा पुलिंग रूप है।

(२) 'पाइ विलग्गी अंत्रडी' में अन्त्रं नपुंसक का अन्त्रडी स्त्रीलिंग रूप है।

(३) 'गय-कुम्भइ दारन्तु' में कुम्भ, पुलिंग का कुम्भइ नपुसकलिंग रूप है।

---

१ एकशसो डि. २ अ डड डुल्ल स्वार्थिक क लुक च ३ योगश्चैषाम्।

४ लिङ्गमतन्त्रम्।

(४) 'पुणु डालइं मोडन्ति' स्त्रीलिग का नपुंसकलिग रूप है।

संस्कृत मे विशेपण का लिग और वचन, विशेष्य के अनुसार ही, होता है अपभ्रंश मे यह अनुशासन नहीं है,

'तुह विरहग्गि किलंत'

"गोरड़ी दिट्ठी मग्गु निअन्त"

इन अवतरणो मे 'किलत और निअन्त' स्त्रीलिग के विशेषण होते हुए भी स्त्रीलिग नही है, हिन्दी तत्सम विशेषणो में लिग आवश्यक नही, जैसे—सुंदर लड़की। इत्यादि।

देशान्=देसइं

आरंभान्=आरम्भइं

कटाक्षान्=कडक्खइ

इन उदाहरणो मे सस्कृत के पुलिङ्ग शब्दो का अपभ्रंश मे नपुंसक लिङ्ग मे प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश मे लिङ्ग का अनुशासन नही है, यह प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी मे बहुत कुछ अपभ्रश से आई।

विभक्त्यर्थ

प्राकृत और अपभ्रंश मे चतुर्थी विभक्ति नही है। उसके स्थान मे पष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है जैसे—"आदन्नहं मब्भीसड़ी जो सज्जन सो देइ" यहाँ आदन्नहं मे चतुर्थी की जगह षष्ठी का प्रयोग है। दूसरे कारको की भी विभक्तियो का आपस मे विनियम होता है। तृतीया के स्थान मे षष्ठी होती है, जैसे—'कन्तु जु सीहहो उवमिअइ, इस उदाहरण मे सीहहो में षष्ठी है। द्वितीया की जगह कभी-कभी षष्ठी का प्रयोग कर देते है। "सउणाह अवराहिउ न करंति" इस वाक्य मे सऊणाहं मे द्वितीया

की जगह षष्ठी का प्रयोग है। उल्लिखित उदाहरणो से स्पष्ट है कि षष्ठी बहुत व्यापक विभक्ति है। इसके अतिरिक्त कई स्थलो मे द्वितीया और तृतीया के बदले मे सप्तमी आती है, तथा पचमी के स्थान मे तृतीया और सप्तमी। इसी प्रकार सप्तमी की जगह कभी-कभी द्वितीया की विभक्ति का व्यवहार होता है।

आख्यात

वैदिक और ब्राह्मणों की भाषा मे आख्यात (क्रिया) का अधिक प्रयोग था। संस्कृत मे, गण लकार वचन और आत्मनेपद आदि के भेद से क्रिया के अनेक रूप होते है। आगे चलकर क्रिया रूपो मे सरलता हुई। दस की जगह पॉच ही गण मिलने लगे, दो वचन का लोप, परस्मैपद और भ्वादिगण का प्रभाव बढ़ा, लुट और लिंग कम हुए। यह पाली युग की बात है। प्राकृत काल मे और सरली करण हुआ। महाराष्ट्री प्राकृत मे गणो का एकदम अभाव है, उसमे भ्वादिगण की व्यापकता है। कर्ता, कर्म और प्रेरणार्थक रूपो की बहुलता होने लगी। कालो मे वर्तमान विधि आज्ञा और भविष्य ही रह गए। अपभ्रंशयुग मे आख्यात की यही स्थिति थी। कालो मे कमी होने से कृदन्तो का प्रयोग बढ़ना अनिवार्य था। यह प्रवृत्ति संस्कृत मे भी बाद मे दिखाई देने लगी। अपभ्रंशयुग मे अख्यात के रूप यद्यपि सयोगात्मक थे, फिर भी उनमे कमी होती गई। अपभ्रंश के वर्तमान मे आख्यात और कृदन्त दोनो का प्रयोग होता है, जब कि भूतकाल मे केवल कृदन्त का। आत्मनेपद का एकदम अभाव है, कहीं-कही एक दो रूपो मे आत्मनेपद के प्रत्यय देख पड़ते है, वह भी पुराने संस्कार के कारण। उदाहरण के लिए 'पिच्छए, लुब्भए' वहमाण पविस्समाण इत्यादि। धातु, क्रिया के उस अश को कहते है, जो उसके समस्त रूपो मे विद्यमान रहता है। जैसे—जाता है, जाओ, जाना,

जायगा प्रभृति क्रियारूपो मे 'जा' सभी मे है, उसमे विकृति नहीं आती। अपभ्रंश मे स्थूल रूप से पॉच प्रकार की धातुएँ है।

(१) मूलधातु मे उन धातुओं की गणना होती है जो देशज है और जिनके विकास मे संस्कृतधातु का कुछ भी योग नही है आ० हेमचन्द ने तदयादीनां छोल्लादय' के अन्तर्गत धात्वादेश के रुप मे ऐसी धातुओ का उल्लेख किया है। यहॉ तदय के स्थान मे छोल्ल के आदेश का इतना ही अभिप्राय जान पडता है कि लोक मे तदय के अर्थ मे 'छोल्ल' धातु का व्यवहार होता है। वस्तुत इस प्रकार की धातुए अपभ्रश की अपनी मूल सम्पत्ति है।

(२) सप्रत्ययधातु मे उन धातुओ की गणना होती है जिनका विकास प्रत्यय-सहित सस्कृत क्रिया-रूप से हुआ। उपविष्ट= विठ्ठ=विट्ठइ, इत्यादि। हिन्दी का बैठना इसी से निकला।

(३) विकरणधातु उन धातुओ को कहते है जिनका विकास सस्कृत धातु की साध्यमान प्रकृति से हुआ है।

यथा=जिणइ, थुणइ, कुणइ, णासइ, णच्चइ,

(४) नामधातु=जैसे—जयजयकारइ हक्कारइ, नमइ, पयासइ, अपभ्रंश मे नामधातु का अधिक प्रयोग है, आधुनिक हिन्दी, इस दृष्टि से दरिद्र है।

(५) ध्वनिधातु=अनुकरण के आधार पर धातु की कल्पना कर ली जाती है।

खुसखुसइ, कुलुकुलइ, गिणगिणइ, गुमगुमइ,

धातुरुप

(१) अपभ्रंश मे सस्कृत की व्यञ्जनान्त धातु मे 'अ' जोड़ कर, रूप बनाये जाते है।

मग् + ग + इ = मग्गइ = माँगता है।

कढ् + ढ + इ = कड्ढइ = काढ़ता है।

इनमें 'अ' को विकरण समझना चाहिए।

(२) उकारान्त धातुओं में 'अव' होता है।

रु = रवइ = रोता है।

सु = सुवइ = सोता है।

(३) ऋकारान्त धातुओं के अंतिम ऋ को 'अर' होता है।

कृ = कर = करइ = करता है।

मृ = मर = मरइ = मरता है।

हृ = हर = हरइ = हरता है।

उपान्त्य ऋ को अरि होता है।

कृष = करिसइ

मृष = मरिसइ

(४) ईकारान्त धातुओं में 'ए' होता है।

नी = नेइ = ले जाता है।

उड्डी = उड्डेइ = उड्डीणे = उड़ता है।

(५) उपान्त्य स्वर को दीर्घ कर देते हैं।

रुष = रूसइ = रुष्ट होता है।

तुष — तूसइ = तुष्ट होता है।

पुष = पूसइ पुष्ट होता है।

(६) एक स्वर के स्थान में दूसरा स्वर आ जाता है।

चिन = चिनइ = चुनइ = चुनता है।

रुद = रुवइ = रोवइ = रोता है।

(७) धातु के अंतिम व्यञ्जन को द्वित्व होता है।

फुटइ = फुट्टइ = फूटता है।

तुट्=तुट्टइ=तोड़ता है।
लग्=लग्गइ=लगता है।
सक्=सक्कइ=सकता है।
कुप=कुप्पइ=कुपित होता है।

(८) संस्कृत (द्य) का ज्ज होता है।

संपद्यते=संपज्जइ=संपादित होता है।
खिद्यते=खिज्जइ=खिन्न होता है।

रूपावली

साधारणतया, धातु से[१] सामान्य वर्तमान मे तृतीय पुरुष के बहुवचन मे 'हिं' प्रत्यय विकल्प से होता है—जैसे करहिं, सहहिं, दूसरे पक्ष मे "करंति" रूप भी होता है।

तृतीयपुरुष[२] एकवचन मे 'इ' अथवा दि लगता है।

कुणइ, करदि, करइ,

द्वितीयपुरुष[३] के एकवचन मे हि विकल्प से होता है-करहि दूसरे पक्ष मे 'करसि' भी हो सकता है।

द्वितीयपुरुष के बहुवचन मे 'हु' होता है 'इच्छहु' 'मग्गहु' पक्षान्तर मे इच्छह भी होता है।

प्रथमपुरुष[४] के एकवचन 'उ' होता है, करउ, धरउँ, दूसरे पक्ष मे 'करिमि' होता है।

प्रथमपुरुष[५] के बहुवचन मे 'हु' होता है, लहहु जाहु। पक्षान्तर मे—लहमु भी होता है।

इस प्रकार वर्तमान काल मे निम्नरूप होते हैं।

---

१ त्यदादिराद्य त्रयस्य बहुत्वं हिं न वा २ मध्य त्रयस्यस्याद्यस्य हिः।
३ बहुत्वे हुः ४ अन्त्य त्रयस्याद्यन्य उँ ५ बहुत्वे हुँ।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष—	करिमि, करउं,	करहुं, करिमु,
द्वितीयपुरुष—	करहि, करसि,	करहु, करह,
तृतीयपुरुष—	करइ, करेइ,	करहि, करन्ति,

भविष्यकाल[1] के 'स्य' को अपभ्रंश मे 'स' आदेश होता है। कही कही 'स' को 'ह' भी हो जाता है।

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष—	करेसमि करीहिमी, करिसु	करेसहुँ
द्वितीयपुरुष—	करेसहि करेससि करीहिसी	करेसहु करेसहो
तृतीयपुरुष—	करेसइ करेहइ	करेसहि करेहिन्ति

आज्ञार्थ

अपभ्रश[2] मे आज्ञा के द्वितीयपुरुष मे 'इ उ और ए' आदेश होते है।

इ=सुमरि, उ—विलम्बु, ए=करे,
सुमरो, ठहरो, करो,

प्रथम और तृतीय पुरुष मे वर्तमान काल के ही प्रत्यय लगते है अपभ्रश मे संस्कृत की तरह आज्ञा और विधि मे अन्तर नही है, इस लिए, आज्ञा के क्रिया रूपो का विधि मे प्रयोग हो सकता है।

विध्यर्थ

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमपुरुष—	करिज्जउ	किज्जउं
द्वितीयपुरुष—	करिज्जहि करिज्जइ	करिज्जहु

---

१ वर्त्यस्यति स्यस्य सः २ (हिस्वयोरिदुदेत्)

तृतीयपुरुष—करिज्जउ करिज्जतु करिज्जहु

भूतकाल मे भूतकृदंन्त का ही प्रयोग होता है।

गय, किय, पइट्ठ इत्यादि।

कर्मणि प्रयोग के लिए इज्ज या इय लगाकर रूप बनाये जाते है।

इज्ज=गणिज्जइ, कहिज्जइ, वण्णिज्जइ

इय=फिट्टियइ, वण्णियइ,

कृदन्त

वर्तमान कृदन्त मे अधिकतर परस्मैपद के प्रत्यय आते है, पर आत्मनेपद के प्रत्यय भी देखे जाते हैं।

पइसंत, करत वज्जन्त कह त जत उग्गमन्त, (परस्मैपद)

पविस्माण वट्टमाण आसीण (आत्मनेपद)

भूतकृदन्त=गय=गत किय=कृत धूमाविय, दिण्णा, पइट्ट, इत्यादि। विध्यर्थ कृदन्त[1] के लिए 'इएव्वउ' एव्वउ और एवा आदेश होते है।

करिएव्वउ, मरेव्वउं, सहेवा, सोएवा,

मरने दिया जाय=मरिएव्वउ देज्जइ

सब कुछ सहना पडता है=सव्वु सहेव्वउं होइ,

मुझे कुछ भी नहीं करना=महु करिएव्वउ कपि नवि।

पूर्वकालिक क्रिया[2] के लिए अपभ्रश मे आठ प्रत्यय होते हैं, हिन्दी मे 'कर' जोड़ा जाता है, खाकर, पीकर, इत्यादि। संस्कृत मे क्त्वा और ल्यप प्रत्ययो का विधान है।

उदाहरण के लिए कर धातु से निम्नलिखित रूप बनेगे।

(१) कर+इ=करि (५) कर+एप्पि=करेप्पि

१ तव्यस्य इएव्वउएव्वउएवाः २ क्त्वा इइउइवि"अवय'

(२) कर + इउ = करिउ
(३) कर + इवि = करिवि
(४) कर + अवि = करवि
(६) कर* + एप्पिणु = करेप्पिणु
(७) कर + एवि = करेवि
(८) कर + एविणु = करेविणु

क्रियार्थक क्रिया† के लिए भी अपभ्रंश मे धातु के आठ रूप होते है, संस्कृत मे 'तुम' लगाया जाता है, (गन्तुं भोक्तुं) हिन्दी मे 'ना' लगता है, खाना जाना इत्यादि। पूर्वकालिकाक्रिया के अंतिम चार प्रत्यय (एप्पि एप्पिणु एवि और एविणु) क्रियार्थक क्रिया मे भी प्रयुक्त होते हैं, शेष चार प्रत्यय ये है एवं, अण, अणहं और अणहिं। जैसे—

दा + एवं = देव = देना
कर + अण = करण = करना
भुञ्ज + अणह = भुञ्जणहं = भोगना
भुञ्ज + अणहि = भुञ्जणहिं = भोगना
जि + एप्पि = जेप्पि = जीतना
जि + एप्पिणु = जेप्पिणु = जीतना
पाल + एवि = पालेवि = पालना
ला + एविणु = लेविणु = लेना
देवं दुक्करु णिअयधणु = अपना धन देना कठिन है।

कर्तरिकृदन्त‡ शील धर्म और साध्वर्थ मे अपभ्रंश मे अणअ प्रत्यय आता है।

हस + अणअ = हसणअ = हसणउ = हसनशील
भस + अणअ = भसणअ = भसणउ = भौंकनेवाला
वज्ज + अणअ = वज्जणअ = वज्जणउ = वादनशील

---

*एप्प्येप्पिण्ये व्येविणवः। †तुम एवमणाणहमणहिं च ‡तृणोणअः।

धात्वादेश (देशीधातु)

अपभ्रंश मे कुछ विशेष धातुओ का प्रयोग होता है, आचार्य हेमचंद ने सस्कृत धातुओ के स्थान पर इनका आदेश किया है। वस्तुत ये देशी धातु है।

क्रिय = कीसु = वलि कीसु = वलि किज्जउं
भू = हुच्च = पहुच्चइ = प्रभवति (पर्याप्त अर्थ मे)
ब्रू = बुव = ब्रुवइ = ब्रूते (बोलता है)
व्रज = वुन = वुन्नइ = व्रजति (जाता है)
दृश् = प्रस = प्रस्सदि = पश्यति (देखता है)
ग्रह = गृण्ह = गृण्हइ = गृह्णोति (ग्रहण करता है)

देशी

तक्षय = छोल्ल = छोल्लइ = तक्षयति (छोलता है)
झलक्क = झलक्कइ = (संतप्त होता है)
वच = वचइ = (जाता है)
खुडुक्क = खुडुक्कइ = (खुडकता है)
घुडुक्क = घुडुक्कइ = (घुडकता है)
भज्ज = भज्जइ = (भग्न करता है)
चम्प = चम्पइ = (चांपता है)
धुट्ठु = धुट्ठुअइ = (व्यर्थ शब्द करता है)

देशीशब्द

धातुओ की तरह अपभ्रश मे कुछ शब्दो का क्रियाविशेषण तथा संज्ञा की तरह प्रयोग होता है। इन शब्दो के विकास का सूत्र सस्कृत से बहु कम जोडा जा सकता है।

क्रियाविशेषण

वहिल्लउ[1] = शीघ्र, 'अन्नु वहिल्लउ जाहि' = दूसरा, शीघ्र चला जाता है।

निच्चट्टु = नीचट (प्रगाढ़) जो 'लग्गइ निच्चट्टु' जो खूब नीचट लगता है।

कोड्डु = कौतिक 'कुड्डेण घल्लइ हत्थि' = कौतुक से हाथ घालता है।

ढक्करि = अद्भुत

दडवड़ = शीघ्र जल्दी,—'दड़बड़ होइ विहाणु' = शीघ्र सवेरा हो जायगा।

छुड्डु = यदि = 'छुड्डु अग्घइ ववसाउ' = यदि काम मिल जाय।

जुअजुअ = अलग अलग = 'पञ्चहं वि जुअंजुअ वुद्धी'।

सम्बोधन

हेल्लि = हे सखी — हेल्लि म झंखहि आलु ?
हे सखी झूठ मत वोलो ?

विशेषण

विट्टालु = नीच संसर्ग

अप्पणु = आत्मीय

सड्ढलु = असधारण

रवण्ण = सुंदर

नालिअ, वढ } = मूर्ख

नवख = नया विचित्र

संज्ञा

द्रवक्क = भय

---

१ शीघ्रादीना वहिल्लादयः।

घंघल = झगड़ा

जाइट्ठिया = यद्यद्दृष्टं तत्तत् "जो जो देखा वह" इस पूरे वाक्य का एक शब्द की तरह प्रयोग होता है।

'जइ रच्चसि जाइट्ठिए' = यदि जो जो देखा उसमे रमते हो ?

मब्भीसा = मा भैषी —'डरोमत' इस पूरे वाक्य का एक शब्द की तरह प्रयोग, जैसे—

'आदन्नहं मब्भीसड़ी जो सज्जणु सो देइ'

जो आर्तजनो को अभय देता है वही सज्जन है।

सम्बन्धी[1] के अर्थ मे केर और तण प्रत्यय होते है।

केर = जसु केरउ हुकारडए = जिसकी हुकार के द्वारा।

तण = अह भग्गा, अम्हह तणा = यदि भग्न हुई तो हमारी।

शब्द[2] चेष्टा और अनुकरण के अर्थ मे हुहुरु घुग्घु कसरक्क, और 'उट्ठबईस' आदि शब्दो का प्रयोग होता है।

शब्दानुकरण = 'हउं पेम्मद्रहि हुहुरुत्ति वुड्डीसु = मै प्रेम समुद्र मे हहरकर डूबूगी।

खज्जइ नउ कसरक्केहि, "कसर कसर कर नहीं खाया जाता"

चेष्टानुकरण—मक्कडु घुग्घिउ देइ = बंदर घुडकी देता है। मुद्धए उट्ठबईस कराविआ = मुग्धा के द्वारा उठाबैठक करवाई जाती है।

'घइं'[3] आदि शब्दो का अनर्थक प्रयोग होता है। घइ विवरीरी वुद्धडी होई विनासहो कालि" विनाशकाल आने पर वुद्धि उल्टी हो जाती है। यहाँ 'घइं' शब्द व्यर्थ प्रयुक्त हुआ है।

---

१ सम्बन्धिन' केरतणौ २ हुहरु घुग्घादय. शब्दचेष्टानुकरणयो.।

३ घइमादयोऽनर्थकाः।

अपभ्रंश और हिन्दी

भाषाविकास की दृष्टि से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की पूर्वज अपभ्रंश ठहरती है, अत. उनपर अपभ्रंश की प्रवृत्ति और प्रकृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, इस दृष्टि से आधुनिक गुजराती भाषा और साहित्य की धारा, अपभ्रंश भाषा और साहित्य से अविच्छिन्नरूप से मिली हुई है, इसका मुख्यकारण गुजरात की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति ही है, गुजराती की तरह हिन्दीभाषा और साहित्य का अपभ्रंश से धारावाहिक संबन्ध पूरा-पूरा नही मिलता, तो भी उनके विकास मे अपभ्रंश की छाप अवश्य है, अपभ्रंश अपने समय मे गुजरात से लेकर बगाल तक फैली हुई थी, अत आधुनिक युग की कोई भी भारतीय आर्य भाषा, उसके प्रभाव से सर्वथा अछूती नही रह सकती।

आधुनिक हिन्दी की प्रवृत्ति तत्सम शब्दो के ग्रहण की ओर अधिक है। अत. ध्वनिसम्बन्धी परिवर्तन अधिक नही मिलते। पर व्याकरण-शैली और शब्दरूपो पर अपभ्रंश की छाप स्पष्ट है। जिनबातो के लिए हिन्दी पर विदेशी प्रभाव सिद्ध किया जाता है, वे उसे अपनी पूर्वजभाषा अपभ्रंश से मिली है। यद्यपि इन दोनो के बीच की कडी अवहट्ट अवश्य है, पर अपभ्रंश का व्याकरण निश्चित और व्यवस्थित होने से हिन्दी के विकास सूत्र को समझने मे उससे बड़ी सहायता मिलती है।

आधुनिक हिन्दी की मुख्य प्रवृत्ति आकारान्त है यह प्रवृत्ति अपभ्रंश मे भी विरल नहीं थी।

'स्वराणां स्वरा प्रायोऽपभ्रंशे' इस नियम के अनुसार अपभ्रंश मे इकारान्त और उकारान्त शब्दो के अकारान्तरूप हो जाते हैं। जैसे—बाहु शब्द का बाह और बाहा, अपभ्रंश उकार बहुला थी, पर उसकी प्रभाव सीमा मे अकारान्त शब्दो की भाषा भी थी, और उसके शब्द अपभ्रंश मे प्रचुरता से आते थे, 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिणी हमारा कन्तु' आदि उदाहरणो मे यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। स्पष्ट है, कि यह प्रवृत्ति हिन्दी मे उर्दू से नहीं आई।

(२) आचार्य हेमचंद ने अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले ह्रस्व एकार और ओकार का उल्लेख किया है। खड़ी बोली मे यद्यपि इनका व्यवहार नही है पर उसकी कई बोलियो मे ह्रस्व एकार ओकार पाए जाते है। अपभ्रश से उनका क्रम ठीक बैठ जाता है। आधुनिक हिन्दी मे ह्रस्वादेश की प्रवृत्ति है, अपभ्रश मे भी यह प्रवृत्ति थी, तेरा का तिरा इसी का सूचक है।

(३) कारक रचना में आधुनिकहिन्दी वियोगावस्था मे है जब कि अपभ्रश सयोगावस्था मे थी। तो भी उसमे वियोगावस्था के छिटफुट उदाहरण मिलते है। सम्बन्धी के अर्थ मे होने वाले केर और तरा प्रत्यय तथा तादर्थ्य के बोधक शब्दो का प्रयोग यही सूचित करता है, प्राकृतो की अपेक्षा अपभ्रंश मे विभक्तिचिह्न कम हैं कर्ता कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियो का लोप व्यापक था। अवहट्ट मे यह प्रवृत्ति और बढ़ी, आधुनिक भाषाओ की वियोगावस्था के लिए—यह स्थिति पूर्वपीठिका का काम करती है।

सर्वनाम हिन्दी के अधिकांश सर्वनामो का सम्बन्ध अपभ्रश से सीधा जोड़ा जा सकता है।। मइं=मै, अम्हे=हम, तुज्झ=

तुम्ह, तुम्हे, तुम, ओइ=(अदस. ओइ) वो वह, जो सो, सु, आदि का अपभ्रंश से सीधा सम्बंध है, संस्कृत और प्राकृत से इनका कोई साम्य नही, इसीप्रकार हिन्दी के सम्बंधसूचक हमारा तुम्हारा अपभ्रंश हमार तुमार से बने। गुण और प्रश्न वाचक सर्वनामो—जैसा (जइस) तैसा (तइस) ऐसा (अइस) कौन (कवण) मे तत्त्वत' अधिक भेद नही है।

(५) हिन्दी ही नहीं आधुनिक आर्यभाषाओ के सम्बंध के परसर्ग का विकास अपभ्रंश से हुआ है। केर और तण को विभक्त करने से उनका विकास हुआ।

(६) 'दिन दहाड़े मुखड़ा क्या देखे दर्पण में' दुखड़ा आदि में दिखनेवाली 'ड़' की प्रवृत्ति—अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय 'डड' की ही झलक है, राजस्थानी और मारवाड़ी मे यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। बड़प्पन का पन भी अपभ्रंश के प्पणु का विकसित रूप है, हिन्दी के स्त्रीलिग मे ईकारान्त या आकारान्त करने की प्रवृत्ति—अपभ्रंश से आई, अपभ्रंश मे गोरड़ी और धूलड़िआ दोनो रूप मिलते है।

(७) हिन्दी के कृदन्त और शब्दो मे लिंग की अव्यवस्था अपभ्रंश की परम्परा से ही प्रभावित है। अपभ्रंश मे लिंग अव्यवस्थित था, उसका कोई अनुशासन नही था के। उदाहरण के लिए कुम्भ का कुम्भइं, अभ्रं का अब्भा, अन्त्रं का अतड़ी और डाली का डालइं हो जाना साधारण बात थी। कृदन्त और विशेषण विशेष्य मे लिग और वचन की जो कट्टरता संस्कृत मे थी, वह अपभ्रंश मे नही रही। स्त्रीलिग का विशेषण होने पर भी कृदन्त में लिग नहीं है जैसे—तुह विरहग्गि किलकन्त—तुम्हारी

विरहाग्नि मे तडफती हुई,। यहाँ नियमानुसार किलकन्ती रूप होना चाहिए था।

(८) पूर्वकालिक और क्रियार्थकक्रिया के रूपो मे पुरानी और नई हिन्दी मे अपभ्रंश का प्रभाव है। पुरानी हिन्दी के उठि चलि करि आदि रूपो मे अपभ्रंश का 'इ' प्रत्यय स्पष्ट देख पड़ता है, करिउ, चलिउ, आदि भी 'इउ' से ही बने है. अपभ्रंश मे पूर्वकालिक क्रिया के लिए आठ प्रत्यय है। उनमे इ और इउ भी है। हिन्दी की क्रियार्थकक्रिया मे चलना करना आदि मे अपभ्रंश क्रियार्थक क्रिया का 'अण' साफ झलकता है। चलण करण अपभ्रंश के रूप है, 'ण' का न और आकारान्त प्रयोग करना हिन्दी की अपनी प्रवृत्ति है, अत चलना आदि रूप बनते हैं। पूर्वकालिक क्रिया मे कर लगता है, जैसे—खाकर उठकर आदि। यह रूप अपभ्रश 'करि' से ही निकला जान पडता है। इकारान्त का अकारान्त होना हिन्दी के स्वभाव के अनुकूल है।

(९) आधुनिक हिन्दी के क्रिया रूपो मे भूत और वर्तमान मे कृदन्त और सहायक क्रिया का प्रयोग होता है, अपभ्रश मे वर्तमान मे कृदन्त और तिङ् दोनो का प्रयोग था। पर भूत के लिए कृदन्त का ही प्रयोग होता था। जैसे—"जे महु दिण्णा दिहअडा" "नाइ सुवण्ण रेह कसवट्टइ दिण्णी" इत्यादि। आधुनिक तिङ्ग मे लिङ्ग के आने की कहानी इसी प्रवृत्ति से जुड़ी हुई है। हिन्दी 'कीजिए दीजिए' से अपभ्रंश के किज्जइ दिज्जइ, की पूरी समानता है। इसके अतिरिक्त कई हिन्दी क्रियाए अपभ्रश की मूल क्रियाओ से बनी है। सस्कृत और प्राकृत से उनका सम्बन्ध जरा भी नहीं।

(१०) पिछली प्राकृत परम्परा की अपेक्षा अपभ्रश का तत्सम शब्दो और व्यञ्जनप्रयोग की ओर अधिक झुकाव रहा है।

इस बात को लक्ष्य करते हुए राजशेखर कहता है "ससंस्कृत मपभ्रंशं लालित्यत्यालिगितं पठेत्" इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश पर संस्कृत का प्रभाव उत्तरोत्तर अधिक पड़ रहा था। अपभ्रश मे 'ऋ' का उपयोग भी इसी प्रवृत्ति का सूचक है। विद्यापति की कीर्तिलता मे संस्कृत का मिश्रण खूब है।

इन समानताओ की साक्षी पर यह सुनिश्चित है कि हिन्दी भापा के विकास को समझने के लिए अपभ्रंश की जानकारी अपेक्षित है। हिन्दी भापा ही नही, साहित्य पर भी अपभ्रंश का अमित प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक हिन्दी के छंदो साहित्य-शैली और अन्य-उपादानो पर यह प्रभाव अलक्ष्य नही किया जा सकता, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे अपभ्रंश का उत्तर-कालीन विकास मानते है, कुछ भी हो अपभ्रंश और हिन्दी के प्रारम्भिकसाहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से बहुत सी भ्रान्तियाँ तो दूर होगी ही, साथ ही, बीच की छूटी हुई धारा भी मिल जायगी।

हिन्दी सर्वनाम

ऊपर हिन्दी और अपभ्रश के सर्वनामों के विषय मे स्थूल संकेत किया जा चुका है। बहुत से विद्वान् हिन्दी सर्वनामों का सम्बन्ध सीधा संस्कृत से जोड़ते है पर यह बहुत दूर की कल्पना है, भापा विकास की दृष्टि से किसी परवर्ती भापा का विकाससूत्र उसकी पूर्वज भापा मे होता है, इसलिए. अपभ्रंश से ही हमे हिन्दी के विकास के अध्ययन को शुरू करना चाहिए। हिन्दी सर्वनामो का अपभ्रंश से सीधा सम्बंध है।

मैं—का संस्कृत के अहं और मया से सम्बंध नहीं है, अपभ्रंश मे कर्म करण और अधिकरण मे 'मइं' होता है 'मइं जाणिउ'—

यह कर्मणि प्रयोग है। इसी मइं से मैं का विकास हुआ। डाक्टर सुनीतकुमार 'मैं' के 'अनुनासिक' में 'एन' का प्रभाव मानते हैं। संस्कृत और प्रकृत का कर्म वाच्य हिन्दी मे कर्तृ वाच्य बन जाता है, अत 'मैं' का कर्तरि प्रयोग असम्भव बात नहीं।

मुझ—अपभ्रंश में अपादान और सम्बंध के एक वचन मे 'मह्‌ु और मज्कु' रूप होते हैं,—मज्कु से तुज्झ के सादृश्य (Anology) पर हिन्दी मुझ निकला है। पुरानी हिन्दी में 'मझ' रूप भी उपलब्ध है।

हम—अपभ्रश मे कर्ता और कर्म के बहु वचन मे 'अम्हे अम्हइ' रूप बनते हैं! अम्हे से आदि 'अ' का लोप और वर्णविपर्यय के द्वारा 'हम' रूप सिद्ध होता है। सस्कृत के 'वय' से हिन्दी के 'हम' का कोई सम्बध नहीं।

हौं—कर्ता के एक वचन के 'हउं' से निकला है, व्रज मे इसका इसी अर्थ मे प्रयोग खूब उपलब्ध है।

'तूं'—का विकास 'तुहु' और संस्कृत त्वम् से माना जा सकता है, 'तुहु' मे 'ह' का लोप और संधि करने से तूं बनता है, अथवा 'त्वम्' के 'व' का सम्प्रसारण करके तुम् और उससे फिर तू रूप हुआ।

तैं—व्रज का तै सीधे अपभ्रश के तइ से निकला है।

तुम—का सम्बध तुम्हे से है। यह अपभ्रश के कर्ता और कर्म के बहु वचन का रूप है। सस्कृत के 'यूयं' से इसका कोई सन्बंध नहीं।

तुझ—अपभ्रंश के अपादान और सम्बंध के एक वचन मे 'तुज्झ रूप होता है, इसी तुज्झ से 'तुझ' रूप निकला।

हमारा तुम्हारा—सम्बंध विशेपण के अर्थ मे, युस्मत् और

अस्मत् से संस्कृत मे युस्मदीय और अस्मदीय बनते है, अपभ्रंश मे इसके लिए तुम्ह अम्ह शब्दों से 'डार' प्रत्यय लगता है, 'डार' के 'ड' का लोप करने पर तुम्हार हमार रूप बनते है 'हेम तुम्हारा कर मरउं' में यह रूप दिखाई देता है, आधुनिक हिन्दी की आकारान्त प्रवृत्ति होने से तुम्हारा हमारा रूप बनते है। इन्ही के सादृश्य पर तेरा मेरा रूप समझना चाहिए।

वे वह ये यह—हिन्दी मे अन्यपुरुप का काम निर्देशवाचक सर्वनामो से लिया जाता है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने वह और यह की व्युत्पत्ति अनिश्चित मानी है। आपका मत है कि इनका विकास अपभ्रंश के किसी असाहित्यिक शब्द से हुआ होगा। पर अपभ्रंश मे अदस् शब्द को कर्ता के बहुवचन मे 'ओइ' आदेश होता है। इ का लोप और व श्रुति करने पर 'वो' रूप बनता है That के अर्थ में, जो अब भी प्रयुत है।

वो=से 'ह' श्रुति (Glide) करने पर वह रूप बनता है। इसी प्रकार एतद् शब्द को 'एइ' आदेश होता है। 'इ' का लोप और 'य' श्रुति करने पर ये रूप स्वत. सिद्ध है 'वह' के सादृश्य पर 'यह' रूप भी कल्पित कर लिया गया जान पड़ता है। भाषाविकास मे प्राय: एक रूप के सादृश्य पर उसके अनुरूप अन्य रूपो की कल्पना कर ली जाती है।

किसका, इसका, उसका जिसका का असु, जसु, कसु, आगे से विकास हुआ है। अपभ्रंशकाल तक ये पद थे, आदि आधुनिक भापा काल मे उनसे परसर्ग लगाकर विभक्ति का निर्देश किया जाने लगा।

जो सो—सम्बन्ध वाचक, जो और सो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश जु और सु से स्पष्ट है। अपभ्रंश मे दोनो का प्रयोग मिलता है।

'तं वोल्लिअइ जु निव्वहइ', "जो मिलइ सोक्खहं सो ठाउं"

कौन प्रश्नवाचक कौन, 'कवण' से सम्प्रसारण और गुण करने पर बनता है।

आप का विकास अप्पाणु से हुआ। "आपण पइ प्रभु होइअइ" मे आप विद्यमान है।

जैसा तैसा ऐसा कैसा इन गुणवाचक सर्वनामो का विकास सीधा, अपभ्रश के जइस, तइस, अइस और कइस से सम्बन्ध रखता है। संस्कृत यादृश् तादृश् ईदृश् और कीदृश् से इनका कोई सरोकार नही। अ+इ=ए होता है, तथा हिन्दी की प्रवृत्ति आकारान्त है, अत जैसा प्रभृति रूप सिद्ध हो जाते है।

अङ्गरूप और परसर्ग

हिन्दी मे संस्कृत के बराबर कारक है पर उसमे सयोगात्मक रूप नहीं है, संस्कृत मे आठ कारक तीन लिङ्ग और वचन के भेद से एक शब्द के चौबीस रूप होते है, हिन्दी मे द्विवचन और नपुंसक लिङ्ग का अभाव है। द्विवचन, पाली प्राकृत और अपभ्रश मे भी नही था, संस्कृत मे षष्ठी विभक्ति व्यापक थी, अन्य कारको का भी यथासंभव आपस मे विनियम होता था, प्राकृतकाल मे आकर यह प्रवृत्ति और बढ़ी, अपभ्रश मे कर्ता कर्म और सम्बन्ध की विभक्तियो का लोप सामन्य बात थी, अवहट्ट काल मे विभक्तियो का और भी ह्रास हुआ, विद्यापति ने कीर्तिलता मे कुल आठ विभक्तियो का व्यवहार किया है, भाषाविज्ञानियो का कथन है कि विभक्तिरहित शब्दो का व्यापक प्रयोग होने से अर्थ मे सन्देह होने लगा अत. संज्ञा और सर्वनामो मे

प्रत्यय या विभक्ति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विभक्ति और प्रत्यय सीधे प्रकृति से लगाए जाते है, अत इन्हें परसर्ग कहना ही उचित है, अधुनिक आर्य भाषाओ मे यह सर्वथा नया विकास है। अंग्रेजी मे इन्हें Post Position कहते है। हिन्दी के अनुसार 'घोड़ो ने' इस पद मे 'घोड़ा' प्रकृति है, उससे कर्ता के बहुवचन मे 'ने' परसर्ग लगाकर 'घोड़ों ने' रूप बनाया जाता है। 'घोड़ो' यह, 'घोड़ा' का विकारी या अङ्गरूप है। विभक्ति मे प्रत्यय, प्रकृति का अङ्ग बन जाता है पर 'घोड़ो ने' मे यह बात नही, भाषा विज्ञान की दृष्टि से दोनो को पृथक् लिखना ही उचित है। विद्वानो की कल्पना है कि यह षष्ठी का ही विकारीरूप है। हिन्दी सर्वनामो मे यह षष्ठयन्तरूप साफ दीख पड़ता है। 'उसने रोटी खाई', 'उसको दे देना', 'किसे खोजते हो', इत्यादि वाक्यो मे उस, इस और किस अंगरूप है, संस्कृत में इदम् और किम् शब्द से सम्बन्ध के एकवचन मे अस्य और कस्य रूप होते है, पाली और प्राकृत मे कस्स और किस्स अस्स और इस्स हो जाते है, प्राकृत मे इनसे सम्बन्ध की प्रतीति होती है, हिन्दी मे नही होती, फलतः 'का' परसर्ग जोड़कर सम्बन्ध की प्रतीति कराई जाती है, इस प्रकार हिन्दी मे किसका इसका आदि पद (Morpheme) बनते हैं। 'किस' की भाति 'घोड़ो' भी षष्ठ्यन्त रूप समझना चाहिए। 'घोटकानां' का बहुत कुछ अश घोड़ो मे सुरक्षित है, 'राजपूताना' 'राजपूतानां' का ही शेष रूप है, 'घरो से' मे घरो गृहाणा का विकारी रूप है, कहने का अर्थ षष्ठी व्यापक विभक्ति है, अत. वर्तमान हिन्दी मे संज्ञा के अङ्ग रूप मे विभक्तिचिह्न लगाकर पद बनाया जाता है, ये चिह्न परसर्ग कहलाते है, इन्हे विभक्ति कहना ठीक नही, क्योंकि विभक्ति

के बाद दूसरी विभक्ति नही लगती। अंग्रेजी मे Back of the Horse कहकर सम्बन्धबोध कराया जाता है। इन परसर्गों का प्रयोग अव्यय के समान होता है, लिग वचन और विभक्ति के भेद से उनमे कोई विकार नहीं होता सीता ने, राम ने, मे 'ने' ज्यों का त्यो रहता है। इससे संज्ञा के, रूप मे वहुत कुछ सरलता आ गई। इसी प्रकार अग रूप के समूचे कारको मे तीन चार से अधिक रूप नहीं होते, आकरान्त राम शब्द कर्ता के दोनो वचनो और अन्य कारको के, एकवचन मे राम ही रहता है, शेष कारको मे 'रामो' अङ्गरूप का उपयोग होता है। सम्बोधन मे रामो होता है। आकारान्त घोडे का एकवचन घोडे, वहुवचन मे घोड़ो और सम्बोधन मे घोड़ो रूप होता है। आकारान्त स्त्रीलिङ्ग बाला शब्द के वाला, वालाए वालाओ और वालाओ रूप वनते है। ईकारान्त के घडियॉ और घडियो अग रूप वनते है, नीचे के विवरण से यह और स्पष्ट हो जायगा।

	एकवचन	वहुवचन
राम—कर्ता	राम जाता है	राम जाते है
कर्म	राम को	रामो को
घोड़ा—कर्ता	घोडा दौड़ता है	घोड़े दोडते है
कर्म	घोडे को	घोड़ो को
वाला—कर्ता	वाला जाती है	वालाए जाती है
कर्म	वाला को	वालाओ को
घड़ी—कर्ता	घड़ी अच्छी है	घडिया अच्छी है
कर्म	घडी को	घड़ियो को

हिन्दी परसर्गों का विकास किन शब्दो से हुआ, इसकी ठीक विकासरेखा नहीं खीची जा सकती। क्योकि कोई भी भाषा,

परिवर्तन काल मे, जब नया रूप ग्रहण करती है तो उसमें निश्चित हेतु नहीं होता, लोक मे जो रूप चल पड़ते है, आगे वही उसकी रूपसम्पत्ति बन जाते है. भाषाविज्ञानी का काम केवल इस बात की छानबीन करना है कि कौन रूप किस रूप के निकट है ? हिन्दी के परसर्गों की कहानी बहुत कुछ अ स्पष्ट है।

ने—संस्कृत प्राकृत मे कर्ताकारक मे खास परिवर्तन नहीं होता पर खड़ी वोली मे सकर्मक क्रिया के सामान्यभूत मे 'ने' का चिह्न लगाना आवश्यक है। बिना इसके, कर्ता का बोध नही होगा। इस 'ने" की व्युत्पत्ति अनिश्चित है, बीम्स इसे कर्मणिप्रयोग मानते हैं। ट्रम्फ आदि विद्वान् संस्कृत 'एन' (करण) से विकास मानते है। हार्नली का मत है कि ब्रज और मारवाड़ी मे सम्प्रदान के लिए—क्रमश' मै को और नौ, ने, आते है। सम्भव है, 'ने' सम्प्रदान मे अप्रयुक्त समझ कर सप्रत्यय कर्ता या करण के लिए ले लिया गया हो, सस्कृत का कर्मणिप्रयोग हिन्दी में कर्तरिप्रयोग हो जाता है। इस प्रकार 'ने' कर्ता का चिह्न बन गया।

को—कर्म और सम्प्रदान दोनो में प्रयुक्त है। 'चाहिए' क्रिया के साथ भी इसका प्रयोग होता है। "उसको चाहिए ?" प्रो० ट्रम्फ इसका विकास 'कृत' से मानते है। हार्नली और बीम्स ने कक्ष से माना है, डा० चटर्जी जी भी यही मानते है। डा० सत्यजीवन वर्मा केरक से 'को' का विकास स्वीकार करते है, पर यह क्लिष्ट कल्पना है। कक्ष से कक्ख, कहं, 'कं' को रूप विकसित हो सकता है।

से—करण और अपादान दोनो में आता है। कुछ लोग 'संतो' से इसका विकास मानते है, और कुछ अवधी के 'सन्' से। वस्तुत: सम = सन् = सौ = से—यह विकास क्रम मानना अनुपयुक्त नहीं।

मे—अधिकरण का चिह्न है। सस्कृत मध्ये से मज्झे मज्झि, महि, मे, यही विकासक्रम ठीक है। सम्वंध को छोड़कर प्राय सभी कारको के परसर्ग, हिन्दी मे अव्यय की तरह प्रयुक्त हैं।

का, के, को—हिन्दी के सम्वन्ध का चिह्न विशेष्याधीन है, अत उसमे लिग के अनुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक है। भेद्य और विशेष्य मे भेदक और विशेषण से काम चलाया जाता है।

'काले घोड़े दौड़ते हैं'

काला घोडा दौड़ता है।

इन उदाहरणो मे व्याकरणिक लिग है। 'राम का घोडा' दूसरे से अपना भेद करता है, अत उसमे विशेषण है, यह विशेषण Logical है, पहला विशेषण है, और दूसरा भेदक। इस प्रकार सम्बंध के विशेष्यनिघ्न होने से, उसमे लिग आना स्वाभाविक है। राम की पुस्तक और राम का घोडा विशेष्य निघ्न होने से, उनमे लिग वर्तमान है। इनका विकास वड़ा रोचक है। सम्बधी के अर्थ मे प्राकृत मे केरक और अपभ्रंश मे केर और 'तण' प्रत्यय लगते है।

कस्स केरक इदं पवहणं ? यह किसका रथ है ?

तुज्झ वप्प केरको ? तुम्हारे वाप का है ?

पहले उदाहरण मे 'केरक' अलग है और उसमे विशेष्य 'प्रवहण' के अनुसार लिग है, दूसरे वाक्य मे दोनो मिले हुए है ? पहले उदाहरण मे 'केरक' विशेष्यनिघ्न है। अपभ्रश मे सम्वध के अर्थ मे केर और तण प्रत्यय आते है। केर से पश्चिमीअवधी मे 'रामकेर' वनता है और पूर्वी अवधी मे रामकर, ओकर तोकर आदि रूप भी होते है। राम शब्द से 'क' आता है।

जैसे—

"राम क चिड़िया राम क खेत
खालो चिड़िया भर भर पेट"

बंगला मे 'रामेर' होता है, यह रामकेर का ही विकास है। कर के दो टुकड़े क और र हुए। इनमे 'क' का खड़ीबोली मे और 'र' का राजस्थानी मे प्रयोग है, विशेष्यनिम्न होने से भेद्य के अनुसार इनका लिग होगा, हिन्दी मे 'का के की' और राजस्थानी मे रा रे री होते है।

तरण के दो टुकड़े त और ण हुए। शौरसेनी प्राकृत मे त को द होता है तथा द और ज का आपस में विनिमय होता है, जैसे—गजाधर और गदाधर। इस प्रकार 'ज' सिधी भाषा मे सम्वध के अर्थ मे प्रयुक्त होता है—

मोहे जो दडो—'मरे हुओ का टीला'

त का च होकर महारा ी मे सम्बंध के अर्थ मे प्रयुक्त होता है राम च पुस्तक, इत्यादि। ण 'न' होकर गुजराती के सम्बंध का चिह्न बनता है प्राय सभी आधुनिक आर्य भाषाओ के सम्वंध के चिह्न केर और तण से विकसित हुए जो कि अपभ्रश के सम्वध कारक मे आते है।

लिग हिन्दी लिगानुशासन के अव्यवस्थित होने के तीन कारण है एक तो अपभ्रश की परम्परा से लिग मे अव्यवस्था उत्पन्न हुई। दूसरे हिन्दीगद्य की अपेक्षा उर्दूगद्य का विकास पहले हुआ। उर्दू मे, आग का वाचक आतिश शब्द स्त्रीलिग है, उसी के सादृश्य पर—हिन्दी मे सस्कृत का अग्नि शब्द पुलिग से स्त्रीलिंग हो गया। हिन्दी विशेषण और कृदन्त मे लिग की शिथिलता अपभ्रंश के माध्यम से आई। अपभ्रश मे तीन लिग थे, पर हिन्दी मे दो ही लिग है पंजाबी राजस्थानी और सिधी मे भी दो ही है, मराठी

गुजराती और सिंहली में तीन लिंग है, अनार्य प्रभाव अधिक होने से बंगला आसामी और उड़िया में लिंग भेद अधिक नहीं है। नपुंसकलिंग कम हो जाने से, उसकी व्यवस्था स्त्रीलिंग और पुलिंग शब्दों के भीतर की गई, इससे भी अव्यवस्था हुई। प्राकृतिकलिंग सभी भाषाओं में समान है, भेद केवल व्याकरणिक लिंग की दृष्टि से दिखाया गया है।

आख्यात में लिंग नहीं होता, संस्कृत के आख्यात में लिंग नहीं है, 'रामो गच्छति' और सीता गच्छति" दोनों में 'गच्छति' ज्यों का त्यों है। हिन्दीआख्यात में लिंग, कर्ता के अनुसार होता है। "राम जाता है, और सीता जाती है।" इसका मुख्य कारण आधुनिकहिन्दी मे आख्यात का प्रयोग न होकर कृदन्त और सहायक क्रिया का प्रयोग होना है। अपभ्रंश धातुओं के विकास का विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि किस प्रकार संस्कृत के धातुरूपों मे उत्तरोत्तर कमी होती जा रही थी, काल कम होने से कृदन्त का प्रयोग बढ़ने लगा था। वैदिक संस्कृत में भूतकाल मे क्रिया के तिङ्गत रूप ही आते हैं।

गत' तेन कृतम्—आदि रूप, वैदिक सस्कृत मे विरल हैं, आगे चलकर लौकिक संस्कृत मे ये निष्ठारूप क्रिया का काम देने लगे। स कृतवान्, अह कृतवान् स कृतवती आदि रूपो से क्रियारूप में सरलता हो गई, और भूतकालिक क्रिया का प्रयोग कम होने लगा, इस प्रकार धातुज भूतकृदन्त (Pastparticiple) से भूतकालिक क्रिया बनाने को वैयाकरण 'कृदभिहित आख्यात' कहते है, यह क्रियाविकास की पहली सीढ़ी थी, दूसरी सीढ़ी मे वर्तमानधातुज कृदन्त भी (Present participle) क्रिया का काम देने लगे। यह प्राकृत से अपभ्रंश बनने के समय

हुआ। अपभ्रंश युग की संस्कृत मे वर्तमानकृदन्त धातु की तरह प्रयुक्त होने लगे जैसे—अहमापृच्छन्नस्मि=मै पूछना चाहता हूँ, संस्कृत मे वह जाता है का कृदन्त रूप होगा।

	स:	यात	अस्ति
प्राकृत	ओ	जात	अत्थि
पजाबी—	ओ	जान्दा	आइ

प्रस्तुत उदाहरण मे 'यात:' 'स' कर्ता का विशेषण है, अत उसके अनुसार ही उसमे लिग और वचन होगा। अस्ति सहायक क्रिया की तरह प्रयुक्त है। संस्कृत मे काल का परिज्ञान क्रिया मे प्रत्यय लगाकर कराया जाता है और हिन्दी मे सहायक क्रिया द्वारा। 'है' हिन्दी में शुद्ध धातु का रूप है। अत: उसमे लिंग नहीं है, राम जाता है, और सीता जाती है, दोनो मे 'है' समान ही है। इसी प्रकार आज्ञा और विधि के रूप भी शुद्ध क्रियापरक रूप है, इस लिए उनमे लिग का झगड़ा नही है।

हिन्दी सहायक क्रियाएं

है—अस्ति से विकसित हुआ, स्वरभक्ति द्वारा 'अस्ति' का असति और त का लोप करने पर 'असइ' हुआ। 'स' 'ह' मे बदलता है, अत 'अहइ' रूप हुआ, अहइ से अहै और आदि 'अ' का लोप होने पर 'है' रूप सिद्ध होता है।

था भू धातु के भूतकृदन्त 'भूत' से निकला है। 'भूत के 'भुअ' और 'हुअ' रूप होते है। दूसरे; भूत का हुत भी होता है। महाकवि सूर और जायसी ने इसका प्रयोग किया है, हुत का हत, और हत से हता, हता से ता को महाप्राण और 'ह' का लोप करने पर था रूप बनता है। हता के त का लोप और उच्चारण की सुविधा से संधि करने पर 'ह हे हो' आदि रूप भी बनते है—घनानंद

आदि कवियो ने इन रूपो का प्रयोग किया है भूत कृदन्त से विकास होने से ही, था थे थी रूप होते है। कुछ विद्वानो ने 'स्था' से इसका विकास माना है, पर यह ठीक नहीं।

गया गत इस भूतकृदन्त से बना है। त का लोप, य श्रुति और हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार दीर्घ करने पर 'गया' रूप सिद्ध होता है। ब्रज मे गयो और अवधी मे गवो रूप बनते है।

गा गे गी की व्युत्पत्ति विवाद ग्रस्त है। कुछ विद्वान् 'चलितुं गत.' से इनका विकास मानते है, पर यह असगत इसलिए जान पड़ता है कि भूतकाल के क्रियारूप से भविष्य का बोध किसी प्रकार सम्भव नही है। प्राकृत और अपभ्रंश मे भविष्य मे 'ज्ज' का प्रयोग होता है, वर्तमान आज्ञा और विधि मे भी इसका व्यवहार है। हसेज्ज=हसेगा।

'ज' और 'ग' का विनिमय होता है जैसे भाजना भागना, भीजना भीगना इत्यादि। इस नियम से एक 'ज' का लोप और दूसरे 'ज' को ग करने पर—हसेगा रूप बन जाता है। यद्यपि यह शुद्ध तिङ का रूप है, तो भी था थे थी आदि के सादृश्य पर गा गे गी रूप चल निकले। प्रस्तुत प्रक्रिया मे विचारणीय यह है कि अपभ्रंश या प्राकृत मे भविष्यकाल के अर्थ मे 'ज्ज' वाले रूपो का प्रयोग कितना था। जहा तक अपभ्रंश का प्रश्न है उसमे भविष्यकाल मे इस प्रकार के रूप बहुत कम प्रयुक्त है चलिहइ, चलिसइ वाले रूप ही अधिक प्रयुक्त है, कुछ भी हो, गा गे गी का विकास चिंतनीय अवश्य है। ब्रज के चलिहै करिहै—आदि रूप चलिहइ के ही समान है। अवधी का 'चली' भी चलिहइ के 'ह' का लोप और संधि करने पर बनता है। चलब करब आदि रूप संस्कृत के चलितव्य=चलिअव्व=

चलअव=चलव के रूप मे विकसित हुए, चलितव्य कर्मणि प्रयोग है—परन्तु हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार संस्कृत का कर्मणि प्रयोग हिन्दी मे आकर कर्तरिप्रयोग हो जाता है। यह भाषा का अपना स्वभाव है।

चाहिए—की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानो ने चह से की है, पर इस अर्थ मे इसका प्रयोग एकदम विरल है। 'स्पृह' से इसका विकास मानना चाहिए। स्पृह का प्राकृत मे पाहिज्जइ होता है, और मराठी मे पाहिजे। स्पृह मे 'स+प+ह' तीन वर्ण है, 'स' का च से विनिमय होता है, गोरखपुर मे शाबास को चाबस कहते है—अत स्पृह से पाहिजे की तरह चाहिए रूप बन सकता है। इसकी व्युत्पत्ति भी विचारणीय है।

संयुक्तक्रियाएं—हिन्दी मे संयुक्तक्रियाओ का खूब प्रयोग होता है। जैसे—उठ बैठा, गिरपड़ा, इत्यादि। संयुक्तक्रिया मे बाद की क्रिया की मुख्यता होती है। संस्कृत मे 'चालयामास, एधांबभूव, चालयांचकार आदि रूप सयुक्त क्रिया के ही उदाहरण है। कालिदास ने इनका खूब प्रयोग किया है। साधारण नियम यह है कि उनके बीच मे व्यवधान नही आना चाहिए, कालिदास ने इसका उलंघन किया है, रघुवंश मे दशरथ की आखेट-यात्रा के वर्णन मे कवि ने 'सपातया प्रथम मास' लिखा है, इससे स्पष्ट है कि भाषा को व्याकरण के नियमो से नही बांधा जा सकता। वह चेतन की कृति है अत. उसमे स्वाभाविक परिवर्तन होना ही चाहिए। आधुनिक हिन्दी मे संयुक्त क्रियाओ के विचित्र प्रयोग मिलते है। जैसे—"मुझसे तो उठा नही जाता" "उसने उठा ही तो लिया" इत्यादि।

———

शब्द कोष

अ

आइरिय }
आयरिय } =आचार्य

अग्ग=अग्र, आगे

अग्गि=अग्नि

अग्घ=अर्घ्य

अब्भुअ=अद्भुत

अच्चन्त=अत्यन्त

अज्जुत=अयुक्त

अज्ज=अद्य

अच्चल=अचल

अड्डवि=अटवी, पहाड,

अत्थवण=अस्तमन

अन्तेउर=अन्तःपुर, रनवास

अद्ध=अर्ध, आधा

अप्पा=आत्मा

अभतर=अभ्यन्तर, भीतर

अक्खर=अक्षर

अमिय=अमृत

अवर=अपर, दूसरा

अवरूप्परु=परस्पर

अंसु=आंसु

अहिणव }
नूतन } अभिनव, नया

अहोरत्ति=अहोरात्र, दिनरात

अणत्थ=अनर्थ

अणज्ज=अनार्य

अच्छरिय=आश्चर्य

अच्छर=अप्सरा

अच्छइ=अस्ति

अणादर=अनादर

अनाह=अनाथ

अनुदिणु=प्रतिदिन

अत्थ=अर्थ

अण्ण }
अन्न } =अन्य

अत्थि=अस्ति, है

अंधआर }
अंधार } =अंधकार, अंधेरा

अपुज्य = अपूज्य
अभक्ख = अभक्ष्य
अरण्ण = अरण्य, जंगल
अलक्ख = अलक्ष्य
अवत्थ = अवस्था
अब्भास = अभ्यास
असख = असंख्य

आ

आकंख = आकांक्षा
आएस = आदेश
आवइ = आपद्
आउस = आयुष्
आण = आज्ञा [हिन्दी आन]
आदर = आदर
आयवत्त = आतपत्र (छत्ता)
आसण = आसन
आसत्त = आसक्त
आसीस = आशिष्
आहरण = आभरण (गहना)

इ

इत्थि = स्त्री
इंदिय = इन्द्रिय
इंधण = ईधन
इयर = इतर
ईस = ईश

उ

उअअ = उदय
उग्गम = उद्गम
उच्छिट्ठ = उच्छिष्ट
उच्छव = उत्सव
उच्छु = इक्षु ऊख,
उज्जअ = उद्यत
उज्जोअ = उद्योत
उज्झ = उपाध्याय
उज्झर = निर्झर
उण्ह = उष्ण
उण्हाल = उष्णकाल
(उनारी हिन्दी)
उच्छाह = उत्साह
उत्तरावह = उत्तरापथ
उद्देस = उद्देश
उप्पल = उत्पल, पत्थर
उम्मुह = उन्मुख
उवएस = उपदेश
उवभोय = उपभोग
उम्माद = उन्माद
उपयार = उपकार
उववास = उपवास
उवसोह = उपशोभा
उव्वेव = उद्वेग

ऊसास = उच्छ्वास

ए

एगमेक = एकमेक

एक्कलिय = एकली, एकाकिनी

ओ

ओली = आवली, पंक्ति

ओसार = उत्सार

ओह = ओघ

क

कइ = कति, कितने

कउ = कचि

कउ = कहां से

कक्कस = कर्कश

कक्ख = कक्ष

कज्ज = कार्य, (कारज)

कज्जल = काजल

कडक्ख = कटाक्ष

कट्ठ = काष्ठ

कण्ण = कर्ण

कण्ह = कृष्ण

कंत = कांत

कंपण = कृपाण

कलिय = कलिका

कह = कथा

कम्म = कर्म

कद्दम = कर्दम

काउरिस = कापुरुष

कारुण्ण = कारुण्य

कडिल = कटिवस्त्र

कडाह = कड़ाई

कठिण = कठिन

कायर = कातर

किय = कृत

किलेस = क्लेश

काय = काक, कोआ

किरिया = क्रिया

किलन्त = क्लान्त

किसिय = कृशित

किसलय = कोपल

कित्ति = कीर्ति

कोड् = क्रीडा, खेल

किविण = कृपण

कुक्कुड = मुर्गा

कुइय = कुपित

कुक्खि = कुक्षि, कोख

कुडुम्ब = कुटुम्ब

कुपह = कुपथ

कुरुखेत्त = कुरुक्षेत्र

कुच्छ = किंचित्, थोड़ा

कुल्हड़ि = कुल्हाडा
कूव = कूप
कोइल = कोकिल, कोयल
कोऊहल = कौतुहल
कोण = कोण
कोस = कोष
कोह = क्रोध
कोट्ठ = कोष्टक कोठा,

ख

खडिल्लउ = खल्वाट खोपडी
खंधावर = स्कंधावार, सेना
खप्पर = कर्पर
खवण = क्षपणक, साधु
खार = क्षार
खतव्व = क्षतव्य
खत = क्षात
खलभलिय = क्षुब्ध
खुद्ध = क्षुब्ध
खुल्लय = क्षुल्लक
खेड्ड = खेल
खेम = क्षेम
खेत = क्षेत्र
खोणी = क्षोणी
खोह = क्षोभ

र

रज्ज = राज्य
रक्ख = रक्षा
रण्ण = जंगल
रत्त = रक्त
रत्ति = रात्रि
रयण = रत्न
रवण्ण = रमणीय
रसोइ = रसवती
रहस = हर्ष
राउल = राजकुल
रिछोली = पंक्ति
रइ = रति
रउद्द = रौद्र
रंध = रंध्र, छेद
रिक्ख = रीछ
रिद्धि = ऋद्धि
रिसह = ऋषभ
रुक्ख (रूख हिन्दी) = वृक्ष
रुट्ठ = रुष्ट
रुण्ण = रुदित
रयणि = रजनी
रम्म = रम्य
रेह = रेखा

रोट्ट = रोट्टक, रोटी

ल

लच्छि } = लक्ष्मी
लक्खि }

लावण्ण = लावण्य

लिह } = लेखा
लेह }

लड्डुअ = लड्डुक

लोण = लवण, नमक

लोय = लोक

व

वउल्ल = वर्तुल, गोल

वन्द्र = वृन्द

वढ = मूर्ख

वक = टेढा

वंस = वश

वाघ = व्याघ्र

वच्छल्ल = वात्सल्य

वज्ज = वज्र

वण = वन

वत्थ = वस्त्र

वराय = वराक, बेचारा

वरिस = वर्ष

वरिट्ठ = वरिष्ठ

वसह = वृषभ

वहु = वधू

वामोह = व्यामोह

वासहर = वासगृह

विट्ठु = विष्णु

विएस = विदेश

विक्खाय = विख्यात

विचित्त = विचित्र

विच = वर्त्मन्, रास्ता

विज्जुल = बिजली

विज्जा = विद्या

विनोय = विनोद

विणट्ठ = विनष्ट

वित्ति = वृत्ति

वित्थय } = विस्तार
वित्थर }

विदिस = विदिशा

विन्नाण = विज्ञान

विन्नास = विन्यास

विप्प = विप्र

विप्पिय = विप्रिय

विम्हय = विस्मय

वियप्प = विकल्प

विरत्त = विरक्त

विरूअ = विरूप

विविह = विविध

विवोह = विबोध
विस = विष
विसिट्ठ = विशिष्ठ
विसाय-विषाद
विहत्त-विभक्त
विहल = विफल
विहि = विधि
विहुर = विधुर
वीयराग = वीतराग
वेयण = वेदना
वेराय = वैराग्य
वेस = द्वेष
वेहव = वैभव
वोहित्थ = वोहित्त

स

सच्च = सत्य
सनेह = स्नेह
सत्त = सप्त
सत्थ = सार्थ
सत्थ = शस्त्र
सत्थ = शास्त्र
सद्द = शब्द
समसाण = श्मशान
सयल = सकल
सलवण = सलावण्य
सवण = श्रमण
सवत्ति = सपत्नी
सह = सभा
सामण्ण = सामान्य
सावय = श्रावक
साहार = साहकार, आम
साहुकार = साधुकार, महाजन
सक्कार = सत्कार
सक्ख = सख्य
संकेय = सकेत
सखोह = सक्षोभ
सच्छ = साक्षात्
संजोय = संयोग
सझ = संझा
संतोस = संतोप
सपरिवार = सपरिवार
समइ = समय
सुण्णउ = शून्य
सेज्ज = शय्या
सुत्त = सुप्त
सेहर = शेखर
समुद्द = समुद्र
समुन्नय = समुन्नत
संपइ } = संपद्
संपय }

समिद्धि = समृद्धि
सम्पुन्न = सम्पूर्ण
सत्थ = स्वार्थ
सरसइ = सरस्वती
सल्ल = शल्य
सव्वउ = सर्वत, सब ओर से
सहाव = स्वभाव
सहसत्ति = सहसा
सामग्गि = सामग्री
सामन्न = सामान्य
सायर = सागर
साल = शाला
सिंगार = शृंगार
सिट्ठ = शिष्ट
सिढिल = शिथिल
सिन्य = सैन्य
सिप्पि = शुक्ति
सिहर = शिखर
सीस = शीर्ष
सीह = सिंह
सुइ = श्रुति
सुडीर = शौण्डीर, बहादुर
सुरक्ख = सुरक्ष
सुविण = स्वप्न
सेणि = श्रेणी

सुहचिट्ठि = शुभ चेष्टा
सेव = सेवा
सोक्ख = सौख्य
सोहग्ग = सौभाग्य

ह

हिट्ठा = अधस्तात्, नीचे
हट्ट = हाट, बाजार
हत्थ = हस्त
हाणि = हानि
हर = गृह
हल = फल
हतास = हताश
हियय = हृदय
हेउ = हेतु
हिय = हित

प

पइट्ठ = प्रवृत्त
पउय = कमल, पद्म
पक्ख = पक्ष
पच्चक्ख = प्रत्यक्ष
पज्जत्त = पर्याप्त
पडिम = प्रतिमा
पण्ण = पर्ण, पत्ता
पइ = पति

पउर = पौर
पउरिस = पौरुष
पक्क = पक्व
पंकय = पंकज
पंकिय = पंकिल
पच्छिम = पश्चिम
पडाय = पताका
पडिअ = पंडित
पडिबिंब = प्रतिबिम्ब
पडिहार = प्रतिहार
पसाय = प्रसाद
पंति = पंक्ति
पहाव = प्रभाव
पाडल = हंस
पायड = प्रकट
पियर = पिता
पिहिमि = पृथ्वी
पत्त = पत्र
पत्ति = पत्नी
पेम्म = प्रेम
पय = पद
पयडि = प्रकृति
पयत्त = प्रयत्न
परमेसर = परमेश्वर
परिवाडि = परिपाटी
परिसम = परिश्रम
पलय = प्रलय
पलम्ब = प्रलम्ब
पवित्त = पवित्र
पल्लंक = पर्यङ्क
पाव = पाप
पियास = पिपासा
पेसुन्न = चुगली
पुन्न = पुण्य
पुप्फ = पुष्प
पुरुस = पुरुष
पुव्व = पूर्व
पोय = पोत = जहाज

फ

फंस = फांस
फरसु = फरसु, फरसा
फलगु = फल्गु
फलिय = फलित
फार = स्फार

ब

बधण = बंधन
बम्भ = ब्रह्म
बप्प = बाप
बलिवंड = बलात्कार
बब्बर = बर्बर

वय = वक्र
वहिणि = भगिनी
वार = द्वार
वारस = द्वादश
वरीस = वर्ष
वासण = वस्त्र
विण्णि = दो
वोहि = बोधि
वाहिर = बाहर

भ

भग्ग = भग्न
भट्ठ = भ्रष्ट
भंडण = कलह
भत्त = भक्त
भमर }
भसल } = भ्रमर
भंति = भ्रान्ति
भल्लय = भद्रक
भविय = भव्य
भाणु = भानु
भायर = भाई
भिच्च = भृत्य
भुल्ल = भूला, भ्रान्त
भित्ति = दीवाल
भास = भाषा

म

मउड = मुकुट
मउर = मयूर
मग्ग = मार्ग
मच्छर = मत्सर
मज्ज = मद्य
मज्झ = बीच
मट्टी = मिट्टी
मडय = मृतक
मडव = मडप
मनुअ = मनुज
मणोरह = मनोरथ
गाढु = गर्व
मड = मद
मत्थय = मस्तक
मन्न = मान्य
मम्म = मर्म
मम्मण = मेरामन
मयगल = मदकल
मयरट्ट = वेश्या
मयरंद = मकरद
मयराज = मृगराज
मसाण = श्मशान
महल्ल = वृद्ध

महव्वय = महाव्रत

भाय } भ्राता
भाइय }

मुट्ठि = मुष्टि

मुद्ध = मुग्ध

मोर = मयूर

महावण = महाजन

महुमास = मधुमास, वसन्त

माण = मान

मास = मास

मिग = मृग

मिच्छा = मिथ्या

मुच्छ = मूर्छा

मित्त = मात्र

माहप = महात्म्य

मुत्ताहल = मुक्ताफल

मुडाल = मृणाल

मेह = मेघ

मेहुण = मैथुन

मोक्ख = मोक्ष

मोग्गर = मुद्गर

मोय = मोद

धणुहर = धनुर्धर

धन्न = धन्य

धम्म = धर्म

धयवड = ध्वजपट

धर = धरा

धुआ = लड़की

धीरिम = धैर्य

धुत्त = धूर्त

धुव = ध्रुव

धूम = धुआँ

धूसरिय = धूसरित

न

नइ = नदी

नट्ठ = नष्ट

नंदण = लडका

नयर = नगर

नरय = नरक

नरिंद = नरेंद्र

नवल्ल = नवीन

नवहलिय = नवफलित

नाउं = नाम

नायमुद्द = नागमुद्रा

नारियेर = नारियल

नास = नाश

निक्कय = निष्क्रिय

निक्कारण = निष्कारण

निच्चल = निश्चल

नित्त = नेत्र

निद्ध = स्निग्ध
निद्धण = निर्धन
निद = निद्रा
निप्फल = निष्फल
निरवराह = निरपराध
निवाण = निर्वाण
निवित्ति = निवृत्ति
निसाचर = निशाचर
नीसद्द = नि शब्द
नीसदेह = नि सदेह
नीसेप = नि शेष
नेउर = नुपुर
नेत्त = नेत्र
नेवत्थ = नेपथ्य
नेह = स्नेह
न्हाण = स्नान
गयन्द = गजेन्द्र
गरुअ = गरुक, गरीयस
गवक्ख = गवाक्ष
गाहिर = गंभीर
गाम = ग्राम
गिम्भ = ग्रीष्म
गुज्झ = गुह्य
गत्त = गात्र
गव्भ = गर्भ
गथ = ग्रथ
गय = गज
गयण = गगन
गरिट्ठ = गरिष्ट
गह = ग्रह
गहण = ग्रहण
गास = ग्रास
गुरुहार = गुरुभार

घ

घरवास = गृहवास
घोपण = घोपणा
घाय = घात
घरिणी = गृहिणी

च

चउत्थ = चतुर्थ
चक्क = चक्र
चाडुयार = चाटुकार
चम्म = चर्म (चमडा)
चद = चद्र
चक्खु = चक्षु
चउविह = चतुर्विध
चदलेह = चन्द्रलेखा
चारित्त = चारित्र
चिरयाल = चिरकाल

चुक्क = च्युत
चुण्ण = चूर्ण
चोर = चोर
चोल्ल = चोली

छ

छण्ण = छन्न
छत्तिय = छत्रिका
छार = क्षार
छाय = छाया
छत्त = क्षत्र
छित्त = क्षेत्र
छिद्द = छिद्र
छेय = छेद

ज

जउण = यमुना
जणवउ = जनपद
जंत = यंत्र
जक्ख = यक्ष
जर = ज्वर
जलजंत = जलयंत्र
जस = यश
जघ = जघा
जण = जन
जत्ता = यात्रा
जणणि = जननी
जणण = जनक
जलदेवय = जलदेवता
जलहर = जलधर
जसहण = यशाधन
जाण } ज्ञान
णाण }
जीह } = जिह्वा
जिंभा }
जुज्झ = युद्ध
जुत्ति = युक्ति
जेट्ठ = ज्येष्ठ
जोग = योग
जूआर = द्यूतकार, जुआड़ी
जोव्वण = यौवन

झ

झत्ति = जल्दी
झुणि = ध्वनि
झलमलल = झलमलाता
झाण = ध्यान
झुल्लुक = झोका

ट

टक्कार = टंकार
टिंट = जुआघर

ठा

ठाण = स्थान

ठविय = स्थापित

ड

डम्भ = दम्भ

डर = दर

डाल = शाखा

डाइणि = डाकिनी

डिडीर = फेन

डुक्कर = दुष्कर

डोंब = चडाल

ण

णाण = ज्ञान

णिच्चिन्त = निश्चिन्त

णच्चण = नर्तन

णिडाल = ललाट

णेह = स्नेह

णायरिय = नागरिक

णाणाविह = नानाविध

णत्थि = नास्ति

णिसि = निशा

णिहि = निधि

णीसास = निश्वास

णेउर = नूपुर

त

तक्खण = तत्क्षण

तंब = ताम्र

तंबोल = पान

तास = त्रास

तिक्ख = तीक्ष्ण

तिय = स्त्री

तुम्हारिस = तुम्हारा जैसा

तुरंत = शीघ्र

तुम्हार = तुम्हारा

तत = तत्र

तत्त = तप्त

तड = तट

तावस = तापस

तिकाल = त्रिकाल

तित्त = तृप्त

तित्थ = तीर्थ

तिन्न = तीर्ण

तिलय = तिलक

तिलोय = त्रिलोक

तिवग्ग = त्रिवर्ग

तुंग = ऊंचा

तुट्ठ = तुष्ट

तुडि = त्रुटी

तोणीर = तूणीर
तोस = तोष

थ

थक्क = स्थिर
थण = स्तन
थत्ति = स्थिति
थवक्क = गुच्छा स्तवक
थाण = स्थान
थिय = स्थित
थिर = स्थिर
थोव, थोड़, थोर = स्तोक, थोड़ा

द

दइअ = दैव
दक्ख = दक्ष
दक्खिन्न = दाक्षिण्य, उदारता
दढ़ = दृढ़
दप्प = दर्प
दप्पण = दर्पण
दय = दया
दउवारिय = द्वारपाल
दाडिम = अनार
दाढ़ा = दंष्ट्रा
दारिद्द = दारिद्य
दार = स्त्री
दाहिण = दक्षिण
दिट्ठ = दृष्ट
दिण्ण = दत्त, दिया
दीव = द्वीप दीप
दुवार = द्वार
दुस्सील = दुःशील
दूहल = दुर्भाग्य
देवल, देहुर = देवकुल, मंदिर
दिवह = दिन, दिवस
दिव्व = दिव्य
दिस = दिशा
दिहि = धृति
दीह = दीर्घ
दुक्कड = दुष्कृत
दुक्कम्म = दुष्कर्म
दुक्काल = दुष्काल
दुक्किय = दुष्कृत
दुग्ग = दुर्ग
दुज्जण = दुर्जन
दुत्तर = दुस्तर
दुद्धर = दुर्धर
दुन्निवार = दुर्निवार
दुप्पइ = दुष्पति

ध

धध = मोह

धय = ध्वज

धवल = सफेद

धिट्ठ = धृष्ट

स

सोह = सोहना, सोहइ

सुक्क = सूखना, सुक्कइ

सक्क = सकना, सक्कइ

सह = सहना, सहेइ

सुमर = याद रखना, सुमरइ

सुण = सुनना, सुणइ

सिक्ख = सिखाना
सिक्खवइ, शिक्षा देना

सुव = सोना, सुवइ

सिंगार = शृंगार करना, सिंगारइ

सम्माण = सम्माण करना,
सम्माणइ

संताव = सताना, सतावइ,

सठव = स्थापित करना, सठवइ

सखोह = क्षोभ करना, संखोहइ

सम्पाल = पालना, सम्पालइ

सलह = सराहना, सलहइ

सम्मिल = मिलना, सम्मिलइ

सभाव = सम्भावना करना,
संभावयइ

सिलीस = जोडना, श्लेप करना,
सिलीसइ

सचर = चलना, संचरइ

सजोय = सजोना, सजोयइ

म

मेल्ल = छोड़ना, मेल्लइ

मुअ = मरना, मुअइ

मोड = मोड़ना, मोडइ

मोह = मोहना, मोहइ

मोक्कल = छोड़ना, मोक्कलइ

मार = मारना, मारइ

मुण = जानना, मुणइ

मिल = मिलना, मिलइ

मुण्ड = मुडना, मुण्डइ

मज्ज = डूबना, मज्जइ, वुड्डइ

मउन्न = मुलकित होना, मउलइ

मुच्च = छोडना, मुच्चइ

र

रक्ख = रक्षा करना, रक्खइ

रम = रमना, रमइ

रुअ = रोना, रुअइ

रुस = रूसना, रुसइ

रंज = रंजन करना, रंजइ

भ

भर = भरना, भरइ

भमाड = भ्रमण करना, भमाडइ
भण = कहना, भणइ
भयभीस = भय से डरना,
भयभीसइ
भाम = घूमना, भामइ, भमइ
भाव = भाना, भावइ
भास = भासना, भासइ
भंज = भग्न होना, भंजइ

व

विअस = विकसित होना,
विअसइ
विधंस = ध्वस्त होना, विधसइ
विवर = विवरण देना, विवरइ
वेढ = घेरना, वेढइ
विप्फु = स्फुरित होना, विप्फुरइ
वक्खाण = वखावना वक्खाणइ
वज्जर = बोलना, वज्जरइ
विडम्ब = विडम्बना करना,
विडम्बइ
वलग्ग = चढ़ना, वलग्गइ
विहर = विहार करना, विहरइ
विजूर = झूना, विजूरइ
वंध = बांधना, बंधइ

प

पुञ्ज = संचयकरना, पुंजइ
संच = संचइ
पेर = प्रेरित करना, पेरइ
पेस = भेजना, पेसइ
पूर = पूरा करना, पूरइ
पोस = पोषण करना, पोसइ
पिय = पीना, पियइ
पिक्ख = देखना, पिक्खइ
पाल = पालना, पावइ
पाव = पाना, पावइ
पिच्छ = देखना, पिच्छइ
पहिर = पहिरना, पहिरइ
पहर = प्रहार करना, पहरइ
पयास = प्रकाशितकरना, पयासइ
पक्खि = परीक्षा लेना, पक्खिइ

त

तिक्ख = तीक्ष्णकरना, तिक्खेइ,
तोस = संतुष्ट करना, तोसइ
ताड = ताडन करना ताडइ
चित = चिताकरना { चितइ, चितवइ }
ओहट्ट = घटना, ओहट्टइ
अनुहर = अनुसरण करना,
अनुहरइ
झिज्ज = खींजना, झिज्जइ
लग्ग = लगना, लग्गइ

खण्ड = खंडित करना, खडइ
कील = कीलना, कालदि, कीलइ
चुम्ब = चूमना, चुम्बइ
जा = जाना, जाइ
खा = खाना, खाइ
जाण = जानना, जाणइ
हण = मारना, हणइ
हंस = हसना, हंसइ
थुण = स्तुति करना, थुणइ
निहाल = देखना, निहालइ
पड = गिरना, पडइ
लंघ = लाघना, लंघइ
गवेस = खोजना, गवेसइ
दल = दलना, दलइ
नंद = नंदित करना, नंदइ
वंद = वंदना करना, वंदइ
ग्रह } लेना गृण्हइ
लह } लेना लहइ
निवड = गिरना निवडइ
अन्तरुदेइ = अनुसुनी करता है
गढ़ = गढ़ना, गढ़इ
छड्ड = छोडना, छड्डइ

काव्य-चयन

महाकवि कालिदास (मालव-जनपद)

राजा पुरुरवा का विलाप

गधुम्माइअ महुअर गोएहि
वज्जंतेहि परहुअ तूरेहि
पसरिअ पवणु-व्वेलिअ पल्लवणिअरु
सुललिअ विविह-पआरं णच्चइ कप्प-अरु ।
बहिण ? पइँ इअ अब्भत्थिमि आअक्खहि मं ता
एत्थ वणे भमंते जइ पइं दिट्ठी सा महु कंता
णिसमाहि मियंक सरस वअणा हँसगई
एं चिण्हें जाणीहिसि आअक्खिउ तुज्झ मइं ॥ २ ॥

परहुअ महुरपलाविणि कंती णंदनवण सच्छंद भमंती
जइ पइं पिअंअम सा महु दिट्ठी ता आक्खहि महु परपुट्ठी
रे रे हंसा कि गोइज्जइ गइ अणुसारे मइ लक्खिज्जइ
कइं पइं सिक्खिउ ए गइ लालस सा पइं दिट्ठी जहणभरालस ॥ ३ ॥

गोरोअणा कुकुमवण्णा चक्का भणइ मंइं
महुवासर कीलतो धणिआ ण दिट्ठी पइं ॥ ४ ॥

हउ पइँ पुच्छिमि आअक्खिहि गअवरु ललिअपहारे णासिअतरुवरु
दूर विणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठी पिअ पइँ सम्मुह जंती ॥ ५ ॥

मोरा परहुअ हँस विहँगम अलि गअ पव्वअ सरिअ कुरँगम
तुज्झह कारण रएणभमंते को णहु पुच्छिअ मइ रोअते ॥ ६ ॥

विक्रमोर्वशीय, चतुर्थ-अंक।

सरहपाद (कामरूप, आसाम)

जो णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सियालह
लोमोप्पाटणे अत्थि सिद्धि ता जुवइ-णितवह ॥ १ ॥
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह
उछ भोअणे होइ जाण ता करिह तुरङ्गह ॥ २ ॥
सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किंपि न भावइ
तत्तरहिअ काया ण ताव पर केवल साहइ ॥ ३ ॥

आचार्य देवसेन, (नवी सदी, प्रथमार्ध, धारा, मालव)

सावयधम्म

दुज्जवु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण
अमिउ विसे वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ॥ १ ॥
सजमु सीलु सइच्चु तउ जसु सूरिहि गुरु सोइ
दाह छेय-कस धाय-खमु उत्तमु कँचणु होइ ॥ २ ॥
जइ देखेवउ छड्डियउ ता जिय छड्डिउ जूउ
अह अग्गिहि उह्लावियइ अवस न उट्ठइ धूउ ॥ ३ ॥
दय जि मूलु धम्मंघिवहु सो उप्पाडिउ जेण
दलफल कुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥ ४ ॥
वेसहि लग्गइ धणियधणु तुट्टइ वंधउमित्तु
मुच्चइ णरु सव्वह गुणहं वेसाधरि पइसंतु ॥ ५ ॥
परतिय बहुबंधण पर ण अण्णु वि णरयणिसोणि
विस-कंदलि घारइ ण पर क़रइ वि पाणहं हाणि ॥ ६ ॥

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ परयारु
अह णाइक्के जित्तइण जित्तउ सयलु खंधारु ॥ ७ ॥

वसणइं तावइं छंडि जिय परिहरि वसणासत्त
सुकहं संसग्गे हरिय पेक्खह, तरू उज्झन्त ॥ ८ ॥
माणइं इच्छिय परमहिल रावणु सीय विणट्ठु
दिट्ठिहि मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दट्ठु ॥ ९ ॥

पसुधण धण्णइं खेत्तियइं करि परिमाण पवित्ति
बलियइं बहुयइं बंधणइं दुक्करु तोडहु जंति ॥ १० ॥
भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म करि सदप्प
हुति ण भल्ला पोसिया दुद्धे कालासप्प ॥ ११ ॥
एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ
सो सावउ कि सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥ १२ ॥

मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ
णीरुक्खइ एरंडवणि कि ण भवाई होइ ॥ १३ ॥
ज दिज्जइ त पावियइ एउ ण वयण, विसुद्धु
गाइ पइण्णइ खडभुसइं कि ण पयच्छइ दुद्धु ॥ १४ ॥

काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पणु पडिकूलु
काइ मि परहु ण तं करहि एहु जु धम्महं मूलु ॥ १५ ॥
सत्थसएण वियाणियहं धम्मु ण चढइ मणे वि
दिणयर सउ जइ उग्गमइ घूयडु अंधउ तोवि ॥ १६ ॥
णिद्धणमणुयहं कट्ठडा सज्जमि उण्णय दिंति
अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुणहुंति ॥ १७ ॥
ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि
इक्क णिवारहि जीहड़ी अण्ण पराई णारि ॥ १८ ॥

खंचहि गुरुवयणं कुसहि मेल्लि मढ़िल्लउ तेम
मुह मोडइ मणहत्थियउ सजमभरतरु जेम
सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयल वि जिय वसि हुंति
चाउ कवित्ते पोरिसइं पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ २० ॥
अण्णाए आवति जिय आवइ धरण ण जाउ
उम्मग्गे चल्लन्तयह कंटइं भज्जइ पाउ ॥ २१ ॥
अण्णाए वलियहं वि खउ, कि दुव्वलहं ण जाइ
जहि वाएं णच्चति गय तहिं कि सूणी ठाइ ॥ २२ ॥
अण्णाएं दालिद्दियहं ओहट्टइ णिव्वाहु
लुग्गउ पायथसारणइं फाटइ को सदेहु ॥ २३ ॥
दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण
लोहकज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥ २४ ॥

'सावयधम्म दोहा'

आचार्य पुष्पदन्त (नवी सदी मान्यखेट दक्खिन)

सरस्वती वदना

दुविहालंकारे विप्फुरति लीलाकोमलइ पयाइ दिंति
महकव्वणि हेलणि सच्चरति सव्वइं विण्णाणइं संभरंति
णीसेस देस भासउ चवंति लक्खणइं विसिट्ठइं दक्खवंति
अइरुंदछंदमग्गेण जंति पाणेहि मि दह पाणाइं लेंति
णवहिं मि रसेहि संचिज्जमाण विग्गहतएण णिरु सोहमाण
चउदह पुव्विल्ल दुवालसंगि जिण वयण विणिग्गय सतभंगि
वायरणवित्ति पायडियणाम पसियउ महु देवि मणोहिराम
सिरिकण्हराय करयलि णिहिय असिजलवाहिणी दुग्गयरि
धवलहरसिहरि हयमेहउलि पविउल मण्णखेड णयरि

नर और नारी

सोहइ जलहरू सुरधणु छायए
सोहइ णरवरू सच्चए वायए
सोहइ कइयणु कहए सुबद्धए
सोहइ साहउ विज्जए सिद्धए
सोहइ मुणिवरिंदु मण—सुद्धए
सोहइ महिवइ विम्मल—बुद्धिए
सोहइ मंतिमंति विहिदिट्ठिए
सोहइ किंकरू असिवर लट्ठिए
सोहइ पाउसु सास—समिद्धिए
सोहइ विहउ सपरियण रिद्धिए
सोहइ माणुसु गुण सम्पत्तिए
सोहइ कज्जारभु समत्तिए
सोहइ महिरुहु कुसुमिय साहए
सोहइ सुहडु सुपोरिस राहए
सोहइ माहउ उरयल लच्छिए
सोहइ वरु वहुयए धवलच्छिए

गुणहरू मुट्ठिहे भाइयउ सुद्धवंसु अण्णुवि कोडीसरू
णरहो कलत्तु सरासणु वि कि ण करइ सरोरु भामासुरु

नागकुमार और दुर्वचन का युद्ध

खग्गेहि छिदंति सिल्लेहि भिदंति
वाणेहि विधंति फग्गएहि रुंधंति
परहिं वधंति दंडेहि चूरंति
सूलेहि हूलंति दुरएहि पीलंति

पाडंति मोडति लोवंति घोट्टंति
गेसावडएणाइं जुज्झंति सेएणाइ
ता भासिय तस्य वीरस्स वालस्स
केणावि पुरुसेण कयसुयण हरिसेण
तरुणी णिमित्तेण हुणिक्क चित्तेण
दुव्वयएणणामेण रामाहिरामेण
रुद्धोतुह सामि मायंगगयगामि
त सुणिवि विप्फुरिउ रोसेण अइतुरिइउ
णीलइरि करि चडिउ अइ ऊण तहो भिडिउ
पिय वम्मउत्तस्य रणभारजुत्तस्य

घत्ता—पिय पहु पेक्खिवि भयथरहरिउ भडु करिवर खंघ हो ओयरिउ।
जाएवि वालहो पयजुए पडिउ पभडइ जडु दइवे णाडिउ॥
णायकुमार चरिउ

यशोधर राजा

चाएण कएणु विहवेण इंदु रूवेण कामु कंतीए चंदु
दंडें जमु दिएण पयंड घाउ परदुमदलण वलेण वाउ
सुरकरि करि थोर पयंड वाहु पच्चत णिवइ मणि दिएणवाहु
भसलउल णील धम्मिल्ल सोहु सुसमत्थ भडह गोहाण गोहू
गोउर—कवाड अइविउलवच्छु सत्तित्तय पालणु दीहरच्छु
लक्खण लक्खकिउ गुणसमुद्दु सुयसएण मुत्ति घणगिहरसद्दु
तहो रज्जु करतहो जणु पालंतहो मंति महल्लिहि परियरिउ
एत्तहिं रायउरहो धणकणपउरहो सम्पत्तउ कउलायरिउ

मानवशरीर (आध्यात्मिक दृष्टि से)

माणुस शरीर दुहपोट्टलउ धोयउ धोयउ अइविट्टलउ
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु पोसिउ पोसिउ णउ धरइ वलु
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ मोसिउ मोसिउ धरभायणउ
भूसिउ भूसिउ ण सुहावणउ मंडिउ मंडिउ भीसावणउं
बोल्लिउ बोल्लिउ दुक्खावणउ चच्चिउ चच्चिउ चिलिसावणउं
मंतिउ मंतिउ मरणहो तसइ दिक्खिउ दिक्खिउ साहुहुं भसइ
सिक्खिउसिक्खिउ वि ण गुणिरमइदुक्खिउ दुक्खिउ वि णउथसमइ
वारिउ वारिउ वि पाउ करइ पेरिउ पेरिउ विण धम्मि चरइ
अब्भंगिउ अब्भंगिउ फरिसु रुक्खिउ रुक्खिउ आमइ सरिसु
मलियउ मलियउ वाएं घुलइ सिंचिउ सिंचिउ पित्ति जलइ
सोसिउ सोसिउ सिंभि गलइ पच्छिउ पच्छिउ कुट्ठहं मिलइ
चम्मे वद्धु वि कालि सडइ रक्खिउ रक्खिउ जममुहि पडइ
घत्ता—इय माणुसु कयतामसु जाइ मरिवि तंवारहो
तरुणीवसु अम्हारिसु जडु लग्गउ प्परदारहो

"जसहरचरिउ"

कवि की प्रस्तावना

सिय दंतपंति धवली कयासु ता जंपइ वरवाणी विलासु।
भो देवीणंदणजयसिरीह कि किज्जइ कव्वु सुपुरिससीह।
गोवज्जिएणि णं घणदिणेहि सुरवरचावेहि व णिग्गुणेहि।
मइलियचित्तहि णं जरघरेहि छिद्दण्णेसिहि णं विसहरेहि।
जड़वाइएहि णं गयरसेहि दोसायरेहि ण रक्खसेहि।
आचक्खिय परपुट्ठीपलेहि बरकइणि दिज्जइ हयखलेहि।
जो बाल बुड्ढ संतोसहेउ रामाहिरामु लक्खणसमेउ।
जो सुम्मइ कइवइ विहियसेउ तासुवि दुज्जणु कि परिभहोउ।

घत्ता—णउ महु बुद्धिपरिग्गहु
णउसुयसंगहु णउ कासुवि केरउबलु ॥
भणु किह करमि कइत्तणु
ण लहमि कित्तणु जगु जि पिसुणसय संकुलु ॥

उद्यान का वर्णन

अंकुरियइं णवपल्लवघणाइं कुसुमियकलियइं णदणवणाइं ।
जहि कोइलु हिंडइ कसणपिंडु वणलच्छिहे ण कज्जलकरंडु ।
जहि उड्डिय भमरावलि विहाइ पवरिंदणीलमेहलिय णाइ ।
ओयरिय सरोवर हंसपंति चलधवलणाइं सप्पुरूसकित्ति ।
जहि सलिलइ मारुयपेल्लियाइं रविसोसभएण व हल्लियाइं ।
जहि कमलइ लच्छिइ सहु सणेहु सहुं ससहरेण बद्धउ विरोहु ।
किर दो वि ताइ महणुब्भवाइ जाणंति ण तं जड़सभवाइं ।
जहि उच्छुव णाइ रसगब्भिणाइ णावइ कव्वइं सुकइहि तणाइ ।
जुज्झंत महिस वसहुच्छवाइ मंथामंथियमथणिरवाइ ।
चवलुद्धपुच्छवच्छाउलाइ कीलियगोवालइं गोउलाइं ।
जहि चउरंगुल कोमलतणाइं घणकणकणिसालइ करिसणाइं ।

घत्ता—तहि छुहधवलियमंदिरु
णयणाणंदिरु णयरु रायगिहु रिद्धउ ॥
कुलमहिहरथण हारिए
वसुमइणारिए भूसणु ण आइद्धउ ॥

संकेयागय विरहीयणाइ सासोयपवड्ढिय कच्चणाइ ।
बहुलोयदिण्णाणाणा फलाइं णावइ कुलाइं धम्मुज्जलाइं ।
जहि महु गंडूसहि सिंचियाइं विंभरियाहरणिहि अंचियाइं ।

पियमरिणय सुहवाण सणाइं जहिं मंदरिसिय वाणा सणाइं ।
पडिखलियसरभावियरणाइं उज्जाणइं णं भावियरणाइं ।
उक्कलियालइ णवजोव्वणाइ णिरु सच्छइं णं सज्जणमणाइं ।
जहि सीयलाइं झरमाणियाइं परकज्जसमाणइ पाणियाइ ।
जहिं जणालुचणु कंटयकरालु जलि णलिणे ल्हिक्काविययणालु ।
वाहिरि णिहियउ वियसतु कोसु भणु को व ण टंकइ गुणहि दोसु ।
जहि भमरु तहिं जि संठिउ सुहाइ सगहु सिरि णयणजणहु णाइ ।

घत्ता—कुसुमरेणु जहि मिलियउ
पवणुल्ललियउ कणयवण्णु महु भावइ ॥
दिणयर चूडामणियइ णह
कामिणियइकचुउ परिहिउ णावइ ॥

संसार की नश्वरता

खडयं—इह ससारदारुणे वहु शरीर सघारणे ॥
वसिऊणं दो वासरा के के ण गया णरवरा ॥

पुणु परमेसरु सुसमु पयासइ धणु सुरधणु व खणद्धे णासइ ।
हय गय रह भड धवलइं छत्तइं रविउग्गमणे जति णं तिमिरइं ।
लच्छिविमल कमलालयवासिणि णवजलहरचल वुह उवहासिणि ।
तणु लायण्णु वण्णु खणि खिज्जइ कालालिंमयरदु व पिज्जइ ।
वियलइ जोव्वणु ण करयलजलु णिवडइ माणुसु ण पिक्कउ फलु ।
तूर्पाहि लवणु जसु उत्तारिज्जइ सो पुणरवि तणि उत्तारिज्जइ ।
जो महिवइहि णविज्जइ सो मुउ घरदारेण ण णिज्जइ ।

घत्ता—किर जित्तउ परवलु भुत्तउ
महियलु पच्छइ तोवि मरिज्जइ ॥
इय जाणिवि अद्धुउ अवलविवितउ
णिज्जणि वणि णिवसिज्जइ ॥

दूत का निवेदन

आरणाल—ता दूएण जंपिय कि सुविप्पिय भणसि भो कुमारा।
बाणा भरहपेसिया पिछभूसिया होतिदुण्णिवारा॥

पत्थरेण कि मेरुदलिज्जइ कि खरेण मायगु खलिज्जइ।
खज्जोए रवि णित्तेइज्जइ कि घुट्टेण जलहि सोसिज्जइ।
गोप्पएण कि णहु मासिज्जइ अण्णाणे कि जिणुजाणिज्जइ।
वायसेण कि गरुडु णिरुज्झइ णावकमलेण कुलुसु कि विज्झइ।
कि हंसे ससकु धवलिज्जइ कि मणुएण कालु कवलिज्जइ।
डेडुहेण कि सप्पु डसिज्जइ कि कम्मेणसिद्धु वसि किज्जइ।
कि णीसासे लोग णिहिप्पइ कि पइ भरहणराहिउ जिप्पइ।
घत्ता—हो होउ पहुप्पइ जंपिएण राउ तुहुप्परि वग्गइ।
करवालहिं सूलहि सव्वलहि परहरणंगणि लग्गइ॥

भरत और बाहुबलि का युद्ध

छुडु गज्जिय गुरु संगामभेरि ण भुक्खिय तिहुयणु गिलिवि मारि
छुडु णिग्गउ भुयबलि साहिमाणि छुडु एत्तहि पत्तउ चक्कपाणि।
छुडु काले णीणिय दीहजीह पसरिय माणुस मसासणीह।
थिय लोयवाल जीवियणिरीह डोल्लिय गिरि रुजिय गहणिसीह।
छुडु भडभारे ढलहलिय धरणि छुडु पहरणफुरणे हसिउ तरणि।
छुडु चदवलाइं पलोइयाइं छुड उहयवलाइं पधावियाइं
छुडु मच्छरचरियइं वड्ढियाइ छुडु कोसहु खग्गइं कड्ढियाइ।
छुडु चक्कइ हत्थुग्गामियाइं छुडु सेल्लइ भिच्चहि भामियाइं।
छुडु कोंतइं धरिपइ समुहाइं धूमधइं जायइं दिम्मुहाइं।
छुडु मुट्ठिणिवेसिय लउडिदंड छुडु पखुज्जल गुणि णिहिय कंड
छुडु गयकायर थरहरियप्राण छुडु ढोइयसदण णं विमाण।

छुडु मेठचरण चोइयमयग छुडु आमरवार वाहिय तुरग
घत्ता—छुडु छुडु कारणि वसुमइहि सेएणइ जामहणंति परोप्परु।
अतरि ताम पइट्ठ तहि मति चवंति समुब्भिवि णियकरु।

पश्चाताप

णकमलसरु हिमाहय कायउ दवदड्ढ रुक्खु व विच्छायउ।
ज ओहुल्लिय मुहुपहु दिट्ठउ तं वलि भणइ हउंजि णिक्किट्ठउ।
चक्कवट्टि णियगोत्तहु सामिउ जेणमहंत भाइ ओहामिउ।
हा कि किज्जइ भुयबल मेरउ ज जायउ सुहिदुणणयगारउ।
महिपुएणालि व केणणभुत्ती रज्जहु पडउ वज्जु समसुत्ती।
रज्जहुकारणि पिउ मारिज्जइ बंधवहुं मि विसु संचारिज्जइ।
जिहअलि गध गउ संघारहु तिह रज्जेणजीउ तंवारहु।
भड़सामंतमंतिकय भायउ चिंतिज्जंतउ सव्वु परायउ।
तंडुल पयसहुकारणि राणा णरइ पडति काइ अवियाणा।
उज्झउ रज्जु जि दुक्खु गुरुअउ जइ सुहु तो कि ताएं मुक्कउ।
सुहणिहिभोयभूमि संपयघर कहि सुरतरु कहिगय ते कुलघर
घत्ता—दुल्लंघहु दुक्कियलक्षणहो दूसहदुक्खदुरंतहो।
भणु दाढापंजरि पडिउ णरु को उव्वरिउ कयंतहो॥

कि किज्जइ थेरे कामुण्ण कि सत्थे पाव पुरिस सुएण
कुल पुत्तएण कि णित्तवेण समएण वि कि कर णित्तवेण
अवि विज्जाहरवर किणरेण णिव्विणएं समएं कि नरेण
धरणियल रध पडिपूरएण कि लुद्ध दविणपब्भारएण
सा राई जा ससि विप्फुरिय सा कन्ता जा हियवइ भरिय
सा विज्जा जा सयरु वि णियइ तं रज्जु जम्मि वुहयणु जियइ
ते वुह जे वुहहं ण मच्छरिय ते मित्त ण जे विहरंतरिय
तं धणु जं भुत्तउ दिणि जि दिणि जं पुणरीव दिएणउ विहलयणि

घत्ता—सा सिरि जा गुणणय, गुण ते जे गय गुणिहिं चित्तु हयदुरियउ
गुणि ते हउं मण्णमि पुणु पुणु वण्णमि जेहि दीणु उद्धरियउ

श्रोत्रियकौन ?

वणि वाणिज्जारउ जाणियउं किसियरु हलधारउ भाणियउ
सो सोत्तिउ जो जिणवरु महइ सो सोत्तिउ जो सुतच्चु कहइ
सो सोत्तिउ जो ण दुट्ठु भणइ सो सोत्तिउ जो णउ पसु हणइ
सो सोत्तिउ जो हियएण सुइ सो सोत्तिउ जो परमत्थ रुइ
सो सोत्तिउ जो ण मासु गसइ सो सोत्तिउ जो ण सुयणि भसइ
सो सोत्तिउ जो जणु पहि थवइ सो सोत्तिउ जो सुतवे तवइ
सो सोत्तिउ जो संतहु णवइ सो सोत्तिउ जो ण मिच्छु चवइ
सो सोत्तिउ जो ण मज्जु पियइ सो सोत्तिउ जो वारइ कुगइ

घत्ता—जो तिलकप्पासइ दव्वविसेसइ हुणिवि देवगह पीणइ
पसु जीव ण मारइ भारय वारइ परु अप्पु वि समुजाणइ

नीति कथन

खग्गे मेहें कि णिज्जिलेण तरुण सरेण कि णिप्फलेण
मेहे कामे कि णिद्दवेण मुणिणा कुलेण किं णित्तवेण
कव्वे णडेण किं नीरसेण रज्जे भोज्जे कि परवसेण
दव्वे भव्वे कि णिव्वएण धम्मे राएं कि णिद्दएण
तोणे कणिसे कि णिक्कणेण चावे पुरिसे कि णिग्गुणेण
हउं णिग्गुणु अरु वि मज्भु तणउ कवडेण जेहि तुह मग्गु पणउ
वियसिय पंकिय संणिह मुहेण पडिजपिउ जइणी, तणु सहेण
हो जोव्वणेण हो रुववणेण हो परियणेण हो हो धणेण
हो पट्टणेण सुह वट्टणेण हो सीमतिणिथणघट्टणेण
सहुं सयणहि जहि सम्भवइ वइरु पित्तिय तहिं स वसमि हउं पि सुइरु

महु जणयों दिण्णी तुज्झु पुहइ जो रुच्चइ सो तुहु करहि नृवइ
मइ पुणु जाएवउं कहि वि तेत्थु णिवसत्ति दियवर विज्झि जेत्थु ।
त णिसुणिवि राएण जइ वि चित्ति अवहेरिउ ।
तो वि परायइ कज्जि पुत्तु रज्जि वइसारिउ ।

युद्धवार्तालाप

भड्डु को वि भणइ जइ जाइ जीउ तो जाउ थाउ छुडु पहुपयाउ ।
भड्डु कोवि भणइ रिउ एंतु चड्डु मइं अज्जु करेवउ खडखड्डु
भड्डु कोवि भणइ पविलंवियति मइं हिंदोलेवउं दतिदति ।
भड्डु कोवि भणइ हलि देइ ण्हाणु सुइ देहें दिज्जइ प्राणदाणु ।
भड्डु कोवि भणइ कि करहि हासु णिग्गिवि सिरेण रिणु पत्थिवासु ।
भड्डु कोवि भणइ जइ मुंडु पडइ तो महुं रुड्डु जिरिउ हणवि णडइ ।
भड्डु पियहि सरसु बज्जरइ कामि हउ रण दिक्खिउ सरु मोक्खगामि ।
भड्डु कोवि भणइ असिधेणुयाहि जसदुद्धु लेमि णरसथुयाहि ।
भड्डु कोवि भणइ हलि छिण्णु जइ चि महुं पाउ पडइ रिउ सउहुं तइवि ।
भड्डु कोवि सरासण दोसु हरइ सरपत्तइ उज्जुय करिवि धरइ ।
भड्डु कोवि बद्धतोणी रजुयलु ण गरुड समुद्धुय पक्ख पडलु ।
भड्डु कोवि भणइ कलहसवाणि महु तुह जि सक्खि सोहग्गखाणि ।
परबल अब्भिडिवि रिउसिरु खुडिवि जइ ण देमि रायहु सिरि ।
तो दुक्कियहरणु जिण तव चरणु चरवि घोरु पइसिवि गिरि ।

हनुमान रावण संवाद

हेला—आरूढो गयाहिवे मोरु कुल मग्ग ॥
को मग्गइ रयधओ एलयाण दुग्ग ॥

सायरु कि मज्जायहि सरइ महिवइ कि अण्णणारि हरइ ।
जइ दीवउ अधारउ करइ तो कि पाहाणखड्डु फुरइ ।

जइ तुहु जि कुकम्मइं आयरहि मणु कुवहि वहन्तउ णउ वरहि ।
तो कासु पासि जणु लहइ जउ जहिं रक्खणु तहि उप्पणु भउ ।
अण्णुवि णाणाविह दुक्खसरु परहरु हरन्त परत्तहरु ।
तं णिसुणिवि लक्खणु भणइ को रट्टकहाणियाउ सुणइ ।
महु किंकरु ताव पढमु जणउ पुणरवि दसरहु दसरहतणउ ।
तहु दिण्णी हउं किं किर खममि घरलज्जिय सीय किं ण रममि ।

घत्ता—पुव्व पउत्त महु पच्छइ रहुणाहहु दिण्णी ।
सो छिद्दिणि मणेण मइं अणिय णयणरण्णी ॥

राम की प्रतिज्ञा

गिरि सोहइ हरिणा भउ जणतु पहु सोहइ हरिणा महि जिणतु ।
गिरि सोहइ मत्तमऊरणाउ पहु सोहइ णायमऊरणाउ ।
गिरि सोहइ वरवणवारणेहिं पहु सोहइ वारिणिवारणेहिं ।
गिरि सोहइ उद्धियवाणरेहिं पहु सोहइ णगधयवाणरेहिं ।
गिरि सोहइ णववाणासिणेहिं पहु सोहइ भउवाणसणेहिं ।
तहिं पुव्वकोडिसिल दिट्ठतेहिं पुज्जिय वंदिय हरिहल हरेंहिं ।
सत्तिहिं पउत्तु भो धम्मरासि उद्धरिय तिविट्ठें एह आसि ।
एवहिं जइ लक्खणुभुयहिं धरइ तो देव तिखंड धरत्ति हरइ ।
तं णिसुणिवि पभणइ रामुएव अज्जु वि तुम्हह मणि भंति केव
जांव वि रणि णिहलियउ दसासु जाव वि सिरि दिराण विहीसणासु
ताव वि तुम्हह संदेहबुद्धि लइकिज्जइ सव्वह हियसुद्धि ।

घत्ता—जो अतुलइं तुलइ वलवंत विरिउ विणिवायइ ।
सो हरिकुलधवलु सिल एह किम णउच्चायइ ॥

सीता का विलाप

धाहावइ सीय मणोहिरामु एक्कल्लउ छंडिउ काइ रामु ।

हा हे देवर महु देहि वाय पइं विणु जीवतह किवण छाय।
पूणप्पिणु दट्ठउं हरिसरीरु अवलबिउ सीरे हियइ धीरु।
करहयसिरु हाहारउ मुयंतु संबोहिउ भतेउरु रुयंतु।
लक्खणसुउ णामे पुहइचंदु सइं अहिसिंचिवि किउ कुलि णरिंदु।
सत्तहि जणेहि सीयासुएहि ण समिच्छिय सिरि पीवरभुएहि।
लहुयारउ ताहं पयम्गि णविउ, अजियंजउ मिहिलाणयरि थविउ।
साकेयणयरि सिद्धत्थणामि वणि परिभमंत चलभसल सामि।
सीराउहेण भयमोहणासि तवचरणु लइउ सिवगुत्तपासि।

घत्ता—तहि रामेण सहु सुग्गीउ विसुद्ध विवेयउ।
हणुउ विहीसणु वि पाइयउ जायणिव्वेउ॥

परतंत्रजीवन

डज्झउ परदेसु परावयासु परवसु जीविउ परदिण्णुगासु।
भूभगभिउडिदरिसियभएण रज्जेण वि किं किर परकएण।
सभुयज्जिएण सुहु वणहलेण णउ परदिण्णे मेइणियलेण।
वर गिरिकुहरु वि मरणमि सलग्घु णउ परधवलहरु पहामहग्घु।
कीलंति ताइं णारीणराइं उरयलथणयलविणिहिय कराइं।
वहुकालहि लाए मयपमत्तु वणिणा वणिवइ वणमालरत्तु।
जाणिउ तावे अंततभीणु अपसिद्धउ णिद्धणु वलविहीणु।
वलवंते रुद्धउ काइं करइ अणुदिणु चिंततु जि णवर मरइ।
खलसंगे लग्गी तासुसिक्ख पोट्ठिलु मुणि पणविवि लइय दिक्ख।
चिंतिवि किं महिलइं किं धणेण मुउ अणसणेण णियमियमणेण।
संपुण्णकाउ सोहम्मि देउ चित्तंगउ णामे जाम जाउ।

घत्ता—सावयवय धरिवि ता काले कयमयणिग्गहु।
रघु मघवंतसुउ सुरु हुउ तेत्थु जि सूरप्पहु॥

कृष्ण का बचपन

दुवई—धूलीधूसरेण वरमुक्कसुरेण तिणा मुरारिणा।
कीलारसवसेण गोवालयगोवीहियवहारिणा॥

रंगंतेण रमतरसंतें मथउ धरिउ भमतुअणंते।
मदीरउ तोडिवि आवट्टिउ अद्धविरोलिउ दहिउ पलोट्टिउ।
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी एण महारी मथणि भग्गी।
एयहि मोल्लु देउ आलिंगणु ण तो मा मेल्लहु मे प्रगणु।
काहि वि गाविहि पड्डुरु चेलउ हरितणुतेए जायउ कालउ।
मूढ जलेण काइ पक्खालइ णियजडत्तु सहियहि दक्खालइ।
थएणरसिच्छिरु छायावतउ मायहि समुहु परिधावतउ।
महिससिलचउ हरिणाधरियउ ण करणिबधणाउ णीसरियउ।
दोहउ दोहणहत्थु समीरइ मुइ मुइ माहव कीलिउ पूरइ।
कत्थइ अगणभवणालुद्धउ वालवच्छु वालेण णिरुद्धउ।
गुंजाफेंदुयरइयपओए मेल्लाविउ दुक्खेहि जसोए।
कत्थइ लोणियपिंडु रिक्खिउ कएहें कसहु ण जसु भक्खिउं।

घत्ता—ससरियकरयलेहि सदतिहि सुइसुहकारिणिहि।
भद्दिइ णियडि थिए घरयम्मु ण लग्गइ णारिहि॥

पोयणुनगर का वर्णन

जहि इदणीकतीविहिएणु, णउ णज्जइ कज्जलु णयणि दिएणु।
जहिं पोमरायमाणिक्कदित्ति, उच्छलइ ण दीसइ घुसिणलित्ति।
समसोहइ महिय थणत्थलीहि, जहि रगावलि हारावलीहि।
जहि णिवडियभूसणफुरियमग्गु, हरिलालाकरिसयपकदुग्गु।
जहि लोयघित्ततबोलराउ, वुड्डइ कुकुमचक्खल्लि पाउ।
जहि [illegible] मयगलविल लियालि।

सामंत मंति भड भुत्तभोय, जहि एंति जंति णायरिय लोय ।
जहि चंदकंतणिज्झरजलाइं पवहंति सुसीयइं णिम्मलाइं ।
सोहग्गरूव लायण्णवंत, जहि णार सयल वि ण रइहि कंत ।
जहि खत्तिय थिय ण खत्तधम्म, जहि बंभण विरइयबंभयम्म ।
जहि वइस पवर वइसवणसरिस, वण्णत्तयपेसण जणिय हरिस ।
सुद्द वि विसुद्ध मग्गाणुगामि, तहि राउ वसइ चउवण्णसामि ।

घत्ता—अरिविंद कयतु परवहुविदह दुल्लहु ।
णामें अरविंदु अरिविंदालयवल्लहु ॥

आत्मपरिचय

सिद्धिविलासिणि मणहर दूए मुद्धाए वीतणु संभूए
णिद्धण सधण लोयसमचित्ते सव्वजीवणिक्कारण मित्ते
सद्दसलिल परिवड्ढियसोत्ते केसवपुत्ते कासव गोत्ते
विमल सरासइ जणिय विलासे सुण्णभवण देवउल णिवासे
कलिमल पवल पडल परिचित्ते णिग्घरेण णिप्पुत्त कलत्ते
णई वावी तलाय सरहाणे जरचीवर वक्कल परिहाणें
धीरे धूली—धूसरियंगे दूरुय रुज्झय दुज्जण संगे
महिसयणथले करपंगुरणे मग्गिय पंडिय मरणे
मण्णखेड पुरवरे णिवसंतें मणे अरहंतु देउ झायंते
भरह मण्णणिज्जे णयणिलए कव्व पबंध जणिय जण पुलएं
पुप्फयंत कइणा धुयपंके जइ अहिमाण मेरु णामंके
कयउ कव्वुभत्तिए परमत्थें जिणपयपंकजमउलियहत्थें
कोहण संवच्छरे आसाढए दहमए दियहे चंदरुइरुढ़ए ॥

"महापुराण"

धनपाल

[तिलक द्वीप में भविसयत्त का भ्रमण ।]

परिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु ।
ण पुणु वि गवेसउ आउ भाणु ॥
जिणु संभरतु सचलिउ धीरु ।
वणि, हिण्डइ रोमंचिय-सरीरु ॥
सुणमित्तइ जायइ तासु ताम ।
गय पयाहिणंति उड्डेवि, साम ॥
वामंगि सुत्ति रुहुरुहइ वाउ ।
पिय-मेलावउ कुलुकुलइ काउ ॥
वामउ किलिकिंचउ लावएण ।
दाहिणउ अगु दरिसिउ मएण ॥
दाहिणु लोअणु फदइ सबाहु ।
ण भणइ एण मग्गेण जाहु ॥
थोणंतरि दिट्ठु पुराणपंथु ।
भविएण वि ण जिण-समय-गंथु ॥
सप्पुरिसु वियप्पइ "एण होमि ।
विज्जाहर सुर ण छिवंति भूमि ॥
णउ जक्खह रक्खह किण्णराह ।
लइ इत्थु आसि संचरु णराह" ॥
सचल्लिउ तेण पहेण जाम ।
गिरि-कंदरि सो वि पइट्ठ ताम ॥

चिन्तवइ धीरु सुडीरु वीरु ।
"लइ को वि एउ भक्खउ सरीरु ॥
पइसरमि एण विवरतरेण ।
णिव्वडिउ कज्जु कि वित्थरेण ॥
घत्ता—दुत्तरु दुलघु दूरंतरिउ ताम जाम सचरहि णउ ।
भणु काइ ण सिज्झइ सउरिसह अवगएणन्तह मरण-भउ ॥

[२]

सुहि सयण मरण-भउ परिहरेवि ।
अहिमाणु माणु पउरिसु सरेवि ॥
सत्तक्खर-अहिमतणु करेवि ।
चदप्पहु जिणु हियवइ धरेवि ॥
गिरिकदरि विवरि पइट्ठु बालु ।
अन्तरिउ णाइ कालेण कालु ॥
सचरइ बहल-कज्जल-तमालि ।
ण जिउ वामोह-तमोह-जालि ।
सेइउ णिरुद्ध पवणुच्छवेण ।
वहिरिउ पमत्त-महुअर-रवेण ॥
चिन्तिउ अचिन्त-णिव्वुइ वसेण ।
कंटइउ असम-साहस-रसेण ॥
अणुसरइ जाम थोवतरालु ।
त णयरु दिट्ठु ववगय-तमालु ॥
चउ-गोउर चउ-पासाय-सारु ।
चउ-धवल-पयोलि दुवार फारु ॥
मणि-रयण-कन्ति-कब्बुरिय देहु ।
सिम-कमल-धवल-पडुरिय-गेहु ॥

घत्ता—त तेहउ धणु कचणु पउरु दिट्ठु कुमारिं वरणयरु।
सियवतु वि यणु विच्छाय-छवि ण विणु णीरिं कमल-सरु॥

[३]

न पुर पविस्समाणएण तेण दिट्ठय।
त ण तित्थु किपि ज ण लोयणाण इट्ठय॥
वावि-कूवसुप्पहूव सुपसएण वएणय।
मढ विहार देहुरेहिं सुट्ठु त रवएणय॥
देव मन्दिरेसु तेसु अतरं णियच्छए।
सो ण तित्थु जो कयाइ पुज्जिऊण पिच्छए॥
सुरहि-गंध-परिमल पसूणएहिं फसए।
सो ण तित्थु जो करेण गिह्लिऊण वासए॥
पिक्क-सालि धएणय पणट्ठयम्मि ताणएं।
सो ण तित्थु जो घरम्मि लेवि तं पराणए॥
सरवरम्मि पकयाइ भमिर भमर कदिरे।
सो ण तित्थु जो खुडेवि णेइ ताइ मदिरे॥
हत्थ-गिज्झ वरफलाइ विभएण पिक्खए।
केण कारणेण को वि तोडिउ ण भक्खए॥
पिच्छिऊण परधणाइ खुब्भएण लुब्भए।
अप्पणम्मि अप्पए वियप्पए सु चिन्तए॥
"पुत्ति-चोज्जु पट्टणं विचित्तवंध वंधयं।
वाहि मिच्छ तं जणं दुरक्खसेण खद्धयं॥
पुत्ति चोज्जु राउलं विचित्तभगि भंगयं।
आसि इत्थु ज पहुं ण याणिमो कहं गयं॥
पुत्ति चोज्जु कारणं ण याणिमो अ संहमं।

घत्ता—विहुणिय सिरु भरडक्खिय-लोयणु,
पइं पइ विभइ अणिमिस-जोअणु।
णवतरु पल्लवदल सोमालउ,
हिण्डइ तित्थु महापुरि बालउ॥

[४]

पिक्खइ मंदिराइ फलअद्धुग्घाडिय-जाल-गवक्खइ।
अद्ध-पलोइराइ ण णव-वहु-णयण-कडक्खइ॥
अह फलहतरेण दिरिसिअ गुज्भंतर-देसइं।
अद्ध-पयंधिआइ विलयाण व उरु-पएसइ॥
पिक्खइ आवणाइं भरियंतर भंड-समिद्धइ।
पयडिय-पण्णयाइं ण णाइणि मउडइं चिधइ॥
एक्क धणाहिलास-पुरिसाइ व रधि पलित्तइ।
वरइत्त जुवाणइं णं वहु कुमारिहु चित्तइं॥
जोएसर-विवाय-करणाइं व जोइय-थंभइं।
विहडिय-णेसणाइ मिहुणाण व सुरयारंभइं॥
पिक्खइ गोउराइं परिवज्जिय-गो-पय-मग्गइं।
पासयंतराइ पवणुद्धुअ-धवल-धयग्गइं॥
जाइं जणाउलाइं चिरु आसि महंतर भवणइं।
ताइं मि णिज्झुणाइं सुरयइं सम्मत्तइं मिहुणइं॥
जाइं णिरंतराइं चिरु पाणिय हारिहु तित्थइं।
ताइं वि विहि-वसेण हूअइं णीसह सुदुत्थइ॥

घत्ता—सियवंत णियाणइं णियवि तहो उम्माहउ अंगइं भरइ।
पिक्खंतु णियय-पडिबिंब-तणु सण्णिउं सण्णिउं सचरइ॥
भमइ कुमारु विचित्तसरूवे।
सव्वंगि अच्छेरय भूएं॥

हा विहि पट्टण सुट्टु रवण्णउ ।
किर कज्जेण केण थिउ सुण्णउ ॥
हट्ट-मग्गु कुलसील णिउत्तहि ।
सोह ण देइ रहिउ वणि-उत्तहि ॥
टिटा-उत्तएहि विणु टिटउ ।
ण गय-जोव्वणाउ मयरट्टउ ॥
वरघर पगणेहि आहोयइ ।
सोह ण दिंति विवज्जिय लोयइ ॥
सोवरणइ मि रसोइ-पएसइं ।
विणु सज्जणहि णाइ परदेसइ ॥
घत्ता—हा कि वहुवाया वित्थरिण आएं दुहिण कोण भरिउ ।
त केम पडीवउ समिलइ जं खयकालि अतरिउ ॥

('भविसयत्त-कहा' से)

मुनि रामसिंह (राजस्थान, दसवीं सदी)

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि सतोसु ।
परसुहु वढ चिंतंतह हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥ १ ॥
ज सुहु विसयपरंमुहउ णिय अप्पा झायतु ।
त सुहु इदु वि णउ लहइ देविहि कोडि रमन्तु ॥ २ ॥
सप्पि मुक्की कचुलिय जं विसु त ण मुएइ ।
भोयह भाउ ण परिहरइ लिगग्गहणु करेइ ॥ ३ ॥
हउं गोरउ हउ सामलउ हउ वि विभिरणउ वरिण ।
हउ तणु अंगउ थूलु हउं एहउ जीव म मरिण ॥ ४ ॥
णवि गोरउ णवि सामलउ णवि तुहु एक्कु वि वण्णु ।
णवि तणु अगउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु ॥ ५ ॥

हउ वरु वभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि सेसु।
पुरिसु णउसउ इत्थि णवि एहउ जाणि विसेसु ॥ ६ ॥
देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु वंभु परु सो अप्पाण मुणेहि ॥ ७ ॥
अप्पा मिल्लिवि णाणमउ अवरु परायउ भाउ।
सो छडेविणु जीव तुहुँ झावहि सुद्ध सहाउ ॥ ८ ॥
पचवलद्ध न रक्खइ णदणवणु ण गओ सि।
अप्पु ण जाणिउ णवि परु वि एमइ पव्वइओ सि ॥ ९ ॥
मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउ कस्स ॥१०॥
आराहिज्जइ देउ परमेसरु कहि गयउ।
वीसारिज्जइ काइ तासु जो सिउ सव्वगउ ॥११॥
जाइ ण मरइ ण सम्भवइ जो परि कोवि अणन्तु।
तिहुवण सामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभतु ॥१२॥
अब्भितरचित्ति वि मइलियइ वाहिरि काइ तवेण।
चित्ति णिरजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥१३॥
हत्थ अहुट्ठहं देवली वालह णाहि पवेसु।
सतु णिरंजणु तहि वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥१४॥
वहूयइं पठियइ मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु त पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥१५॥
हवं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लणक्खणु णीसंगु।
एकहिं अङ्गहि वसतयह मिलिउ ण अङ्गहि अगु ॥१६॥
छहदसण धंधइ पडिय मणह ण फिट्टिय भति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खह जति ॥१७॥

मुंडिय मुंडिय मुंडिया, सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तह मुंडणु जि कियउ समारह खंडणु ति कियउ ॥१८॥

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण णरय त पुण्णं अम्ह मा होउ ॥१९॥

कासु समाहि करउ को अचउं
छोपु अछोपु भणिवि को वचउ
हल सहि कलह केण सम्माणउं
जहि जहि जोवउ तहि अप्पाणउं ॥२०॥

पत्तिय तोडहि तडतडह णाइ पइट्ठा उट्टु
एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्टु ॥ २१ ॥

पत्तिय तोडि म जोइया फलहि जि हत्थु म वहि
जसु कारणि तोडेहिं तुहुं सो सिउ एत्थु चडाहि ॥ २२ ॥

देवलि पाहणु तित्थिजलु पुत्थइ सव्वइ कव्वु
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥ २३ ॥

अक्खर चढिआ मसिमिलिआ पाढता गय खीण
एक ण जाणी परमकला कहि उग्गउ कहिं लीण ॥ २४ ॥

अग्गइं पच्छइं दह दिहहि जहिं जोवउ तहि सोइ
ता महु फिहिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥ २५ ॥

वणि देवलि तित्थइं भंमहि आयासो वि णियन्तु
अम्मिय विहडिय भेडिया पसुलोगडा भमतु
ससि पोखइ रवि पज्जलइ पवणु हलोले लेइ
सत्त रज्जु तमु पिल्लि करि कम्मह कालु गिलेइ ॥ २७ ॥

"पाहुड दोहा"

मुनि कनकामर (आसाइय, आशापुरी, बुंदेलखंड, ११ वी का मध्य)

करकंड का अभियान

तं सुणिवि वयणु चंपाहिराउ सएणज्झइ ता किर वद्धराउ
तावेत्तहि दंतीपुरि णिवेण कपाविय मेइणि मदरेण
णिएणासिय अरियण जीवयेण उड्डाविय दहदिसि-रय रणेण
णहु छायउ खलियउ रवि वयेण लहु दिएणु पयाणउ कुद्धएण

गंगा का दृश्य

गगा पएसु सपत्तएण गगाणइ दिट्ठी जतएण
सा सोहइ सिय जल कुडिलवति ण सेयभुवगहो महिल जति
दूराउ वहति अइविहाइ हिमवतगिरिंदहो किति णाइ
विहि कूलहि लोयहि एहतएहि आइचहो परिदितएहि
दब्भंकिय उड्ढहि करयलेहि णइ भणइ णाइ एयहि छलेहि
हउं सुद्धिय णियमग्गेण जामि मा रूसहि अम्हहो उवरि सामि
णइ पेक्खिवि णिउ करकड णामु गउ जणण णयरू गुण गणियधामु
जे सगरि सुरवर खेयरह भउ जणियउ धणुहर मुअसरहि
ते वेढिउ पट्टणु चउदिसिहि गयतुरह णरिंदहि दुद्धरहि

चम्पा नरेश द्वारा आक्रमण का प्रतिरोध

ताव सो उट्ठिओ धाइया किकरा संगरे जेवि देवाण भीयकरा
वाउवेया हया सज्जिया कुंजरा चक्कचिक्कार सचल्लिया रहवरा
हक्क डक्कार हुकार मेल्लतया धाविया केवि कुताइं गेण्हतया
केवि सम्माणु सामिस्स मएणंतया पायपोम,ण रायस्स जे भत्तया
चावहत्था पसत्था रणेदुद्धरा धाविया ते णरा चारुचित्ता वर
केवि कोवेण धावति कप्पतया केवि उग्गिएण खग्गेहि दिप्पतय
केवि रोमचकचेण सजुत्तया केवि सएणाह संवद्ध संगत्तया

केवि सगामभूमिरिसे रत्तया　　सग्गिणीछंद मग्गेण सम्पत्तया
चंपाहि‌उ णिग्गउ पुरवरहो　　हरिकरिरहवर परियरिउ
उहड चड पीवर करहिं मणु　　केहिं ण केहि ण अणुमरिउ

युद्ध वर्णन

ता हणउ तूराइं　　भुवणयल पूराइं
वज्जंति वज्जाइं　　सज्जंति सेण्णाइं
आणाए घडियाइ　　परबलइ भिडियाइं
कुंताइ भज्जंति　　कुंजरइ गज्जंति
रहसेण वग्गंति　　करिदसणे लग्गंति
गत्ताइ तुट्टंति　　मुंडाइं फुट्टंति
रुडाइं धावंति　　अरिथाणु पावंति
अंताइ गुप्पंति　　रुहिरेण थिप्पंति
हड्डाइ मोडंति　　गीवाइ तोडंति

केवि भग्गा कायर जेवि णर केवि भिडिया केवि पुणु
खग्गुग्गमिय केवि भड मडेविणु थक्का केवि रणु।

'करकंड चरिउ'

आचार्य हेमचंद (गुजरात, बारहवीं सदी)

गगहे जम्वुणहे भीतरू मेल्लइ।
सरसइ मज्झि हंसु जइ झिल्लइ॥
तय सो केत्थु वि रमइ पहुत्तउ।
जित्थु ठाइ सो मोक्खु निरुत्तउ॥ १॥
विसयहं परवस मच्छहु मूढा।
वंधुहु सहिहु वि घट्टति छूढा॥
दुहुं ससि सूरिहि मणु संचारहु।
वधुहं सहिहं व वढ विणु सारहु॥ २॥

पुरानी हिन्दी

प्रबंध चिंतामणि

अम्मणिओ सदेसडओ नारय कन्ह कहिज्ज।
जगु दालिद्दिहि डुब्बिउं वलिवधणह मुहिज्ज ॥ १ ॥
ऊगया ताविउ जहि न किउ लक्खउ भगाइ निघट्ट।
गणिया लब्भइ दीहडा किउ दह अहवा अट्ठ ॥ २ ॥
मुंज खडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि।
आसाढि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसे वारि ॥ ३ ॥
मुज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठो चूरि ॥ ४ ॥
सउ चित्तहं सट्ठी मणह वत्तीसडा हियाह।
अम्मी ते नर ढड्ढसी जे वीससइ तियाह ॥ ५ ॥
झाली तुट्टी कि न मुउ कि न हुयउ छारपुज।
हिडइ दोरीवधीयउ जिम मक्कड तिम मुज ॥ ६ ॥
गय गय रह गय तुरग गय पायकडा निभिच्च।
सग्गट्ठिय करि मन्तणउ मुहुता रुद्दाइच्च ॥ ७ ॥
भोलि मुन्धि मा गव्वु करि पिक्खिवि पडुगुपाइ।
चउदहइ सइ छहुत्तरइ मुञ्जह गयह गयाइ ॥ ८ ॥
जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥ ९ ॥

सायरु खाइ लंक गढ़ गढ़वइ दससिरु राउ।
भग्गक्खइ सो भज्जि गउ मुंज म करसि विसाउ ॥१०॥

चापो विद्वान् चापपुत्रोऽपि विद्वान्
आढ आढधुआपि विउव्वी।
काणी चेटी सापि विउवी वराकी
राजन् मन्ये विज्ञपुञ्जं कुटुम्बम् ॥११॥

जइआ रावणु जाइयउ दहमुहु इकसरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउ खीरु ॥१२॥
कवणिहि विरहकरालिअइ उड्डावियउ वराउ।
सहि अचब्भुव दिट्ठ मइं कंठि विलुल्लइ काउ ॥१३॥
एहु जम्मु नग्गह गियउ भडसिरि खग्गु न भग्गु।
तिक्खां तुरिय न माणिया गोरीगलि न लग्गु ॥१४॥
नव जल भरीया मग्गडा गयणि धडकइ मेहु।
जइ इत्थन्तरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु ॥१५॥
भोय एहु गलि कण्ठलउ भण केहउ पडिहाइ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि सीम निबद्धी काइं ॥१६॥
माणुसडा दसदस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध।
मह कंतह इक्कज दसा अवरि ते चोरिहि लिद्ध ॥१७॥
कसु करु रे पुत्र कलत्र धी कसु करु रे करसण वाड़ी।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथपग वेहुझाड़ी ॥१८॥
को जाणइ तुह नाह चीतु तुहालउ चक्कवइ।
लहु लंकह लेवाह मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥१९॥
सइरु नहीं स राण न कुलाउउ नकुलाइ ई।
सउ खड्गांगिहि पाण कि न वइसानिरि होमीइ ॥२०॥
राणा सव्वे वाणिआ जेसुल वड्डउ सेठि।

काहू वणिजहु माण्हीयड अम्मीणा गढ़ हेठि ॥२१॥
तइ गढ़्आ-गिरनार काहूँ मणि मत्सरु धरिउ ।
मारीता खङ्गार एक्क सिहरु न ढालियउं ॥२२॥
जैसल मोडि म बाह वलि वलि विरूए भावियड ।
नइ जिम नवा प्रवाह नवघण विणु आवइ नहि ॥२३॥
वाढी तउ वटवाण, वीसरन्ता न वीसरह ।
सूना समा पराण भोगावह पइ भोगवइ ॥२४॥
आपण पइ प्रभु होइअइ कइ प्रभु कीजइ हत्थि ।
कज्ज करेवा माणुसह तीजउ मग्गु न अत्थि ॥२५॥
मोहरिगउ महिकच्छुयउ जुत्तउं त्ताणु करेइ ।
पुट्ठिहि पच्छइ, तरुणियणु जसु गुणगहण करेइ ॥२६॥
लच्छिवाणि मुह काणि सा भागी हउ मरउं ।
हेमसूरिअन्थाणि जे ईसर ते पंडिया ॥२७॥
हेम तुहाला कर मरउ जीह अचंभुय रिद्धि ।
जे चंपह हिट्ठामुहा तास ऊपहरी सिद्धि ॥२८॥
इक्कह फुल्लह माटि सामिउ देयउ सिद्धिसुह ।
तिणि सउ केही साटि कटरे भोलिम जिणवर ॥२९॥
महिवीढह सचराचरह जिण सिरि दिण्णा पाय ।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होइ चिराय ॥३१॥
नवि मारीयए नवि चोरीयए परदारगमण निवारीयए ।
थोवा विहु थोव दाइयए इमि सग्गि टगमगु जाईयए ॥३२॥

———

पहला भाग

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जनकरपल्लविहि दंसिज्जतु भमिज्ज ॥

खड्ड खडाविय सइं छगल सइं आरोविय रुक्ख ।
पइं जि पवत्तिय जन्न सइ कि बुब्बुयहि मुरुक्ख ॥

वसइ कमलि कलहंसि जिवँ जीवदया जसु चित्ति ।
तसु पय पक्खालण-जलिण होमइ असिव निचित्ति ॥

आभरण-किरण-दिप्पत-देह अहरीकिय-सुरवहू-रूपरेह ।
घण-कुंकुम-कद्दम घर दुवारि खुप्पंत-चलण नच्चंति नारि ॥

तीयह तिन्नि पियाराइ कलि कज्जल सिंदूरु ।
अन्नइ तिन्नि पियाराइ दुद्धु जवाइ उ तूरु ॥

नरवइ आण जु लंघिहइ वसि करिहइ जु करिंदु ।
हरिहइ कुमरि जु कणगवइ होसइ इह सु नरिंदु ॥

यह कोइल-कुल-रव-मुहुलु भुवणि वसंतु पयट्ठु ।
भट्टु व मयण-महा-निवह पयडिअ-विजय मरट्ठु ॥

सूर पलोइवि कंत-करु उत्तर-दिसि-आसत्तु ।
नीसासु व दाहिण-दिसय मलय-समीर पवत्तु ॥

काणण-सिरि सोहइ अरुण-नव-पल्लव परिणद्ध ।
नं रत्तंसुय-पावरिय महु-पिययम-सबद्ध ॥

सहयारिहि मंजरि सहहि भ्रमर-समूह-सणाह ।
जालाउ व मयणानलह पसरिय-धूम-पवाह ॥

वड-रुक्खह दाहिण-दिसिहि जाइ विदब्भहि मग्गु ॥
वाम-दिसिहि पुण कोसलिहि जहि रुचइ तहि लग्गु ॥
निट्ठुर निक्किनु काउरिसु एकुजि नलु न हु भंति ।
मुक्कि महासइ जेण वणि निसि सुत्ती दमयंति ॥
नलगिरि हत्थिहि मइं ठितइ सिवदेवेहि उच्छंग ।
अग्गिभीरु रह दारुइहि अग्गि देहि मह अंगि ॥
करिवि पईवु सहस्सकरु नगरी मज्झिण सामि ।
जइ न रडतु तइ हरउ अग्गिहि पविसामि ॥
वेस विसिट्ठह वारियइ जइ वि मणोहर-गत्त ।
गंगाजलपक्खालिय वि सुणिहि कि होइ पवित्त ॥
नयणिहि रोयइ मणि हसइ जणु जाणइ सउ तत्तु ।
वेस विसिट्ठह त करइ ज कट्ठह करवत्तु ॥
पिय हउ थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत ।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करत ॥
मइ जाणिउ पियविरहिअह कवि धर होइ वियालि ।
णवर मयंकु वि तिह तवइ जिह दिणयरु खयकालि ॥
अज्जु विहाणउ अज्जु दिणु अज्जु सुवाउ पवत्तु ।
अज्जु गलत्थिउ सयलु दुहु जं तुहु मह परिपत्तु ॥
पडिवज्जिवि दय देव गुरु देवि सुपत्तिहि दाणु ।
विरइवि दीणजणुद्धरणु 'करि सभलउ अप्पाणु' ॥
पुत्तु जु रजइ जणयमणु थी आराहइ कंतु ।
भिच्चु पसन्नु कराइ पहु 'इहु भल्लिम पज्जंतु' ॥
मरगय वन्नह पियह उरि पिय चंपयपहदेह ।
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह ॥
चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु ।
सासानलिण झलक्कियउ वाहसलिलसंसित्तु ॥

हउ तुह तुट्ठउ निच्छइण मग्गि मणिच्छिउ अज्जु ।
तो गोवालिण वज्जरिउ पहु मह वियरहि रज्जु ॥

अडविहि पत्ती नइहि जलु तो वि न दूहा हत्थ ।
अव्वो तह कव्वाडियह अज्ज विसज्जिय वत्थ ॥

जे परदार-परम्मुहा ते वुच्चहि नरसीह ।
जे परिरंभहि पररमणि ताह फुसिज्जइ लीह ॥

एक्कु दुन्नय जे कया तेहि नीहरिय घरस्स ।
बीजा दुन्नय जइ करउ तो न मिलउं पियरस्स ॥

अम्हे थोड़ा रिउ बहुअ इउ कायर चिंतति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करति ॥

सो जि वियक्खणु अक्खियइ छज्जइ साज्जि छइल्लु ।
उपह-पट्ठिओ पहि ठवइ चित्तु जु नेह-गहिल्लु ॥

रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि संमाणु ।
सउणिहि मुच्चउ फलरहिउ तरुवरु इत्थु पमाणु ॥

जइवि हु सूरु सुरूवु विअक्खणु ।
तहवि न सेवइ लच्छि पइक्खणु ॥

पुरिस-गुणागुण-मुणण-परम्मुह ।
महिलह बुद्धि पयपहि जं बुह ॥

जेण कुलक्कमु लंघियइ अवजसु पसरइ लोइ ।
त गुरु-रिद्धि-निबंधणु वि न कुणइ पंडिओ कोइ ॥

जं मणु मूढह माणुसह वञ्छइ दुल्लह वत्थु ।
तं ससि-मंडल-गहण किहि गयणि पसारइ हत्थु ॥

सीहु दमेवि जु वाहिहइ इक्कु वि जिणिहइ सत्तु ।
कुमरि पियंकरि देवि तसु अप्पहु रज्जु समत्तु ॥

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

कुलु कलंकिउ मलिउ माहप्पु
मलिणीकय सयणमुह
दिन्नु हत्थु नियगुण कडप्पह
जगु झपियो अवजसिण
वसण विहिय सन्निहिय अप्पह

दूरह वारिउ भद्दु तिणि ढक्किउ सुगइदुवारु।
उभयभवुब्भडदुक्खकरु कामिउ जिण परदारु॥

पिइ माय भाय सुकलत्तु पुत्तु
पहु परियणु मित्तु सणेहजुत्तु।
पहवतु न रक्खइ कोवि मरणु
विणु धम्मह अन्नु न अत्थि सरणु॥
राया वि रकु सयणो वि सत्तु
जणओ वि तणउ जणणि वि कलत्तु
इह होइ नड व्व कुकम्मवंतु
संसाररगि वहुरूवु जतु॥
एक्कल्लउ पावइ जीवु जम्मु
एक्कल्लउ मरइ विढत कम्म।
एक्कल्लउ परभवि सहइ दुक्खु
एक्कल्लउ धम्मिण लहइ मुक्खु॥

जहि रत्त महहि कुसुमिय पलास न फुट्टए पहियगण हियमास।
सहयारिहि रेहहि मंजरीओ न मयण जलण जालावलीओ॥
जहि दुट्ठ नरिंदु व सयवु भुवणु परिपीडइ तिव्वकरेहिं तवणु।
जहि दूहव महिलय जण ससग्ग सतावइ सूय सरीर लग्गु॥

ज तिलुत्तम-रूव वक्खित्तु
खण वभु चउमुहु हुउ
धरइ गोरि अद्धगि संकरु
कंदप्पपरवसु चलण
ज पियाइ पणमइ पुरंदरु

जं केसवु नच्चावियउ गोठंगणि गोवीहि ।
इंदियवग्गह विप्फुरिओ तं वन्नियह कईहि ॥

वालत्तणु असुइ-विलित्ति-देहु
दुहकर दसणुग्गम कन्नवेहु ।
चितंतह सव्वविवेय रहिउ
मह हियउं होइ उक्कंपसहिउ ॥
ईसा–विसाय–भय–मोह–माय ।
भय–कोह–लोह–वम्मह–पमाय ॥
मह सग्गगयस्स वि पिट्ठि लग्ग ।
ववहरय जेव रिणिअह समग्ग ॥

जसु वयण विणिज्जिउ न ससंकु अप्पाण निसिहि दसइ ससंकु ।
जसु नयणकंति जिय लज्जभरिण वणवासु पवन्नय नाइ हरिण ॥८॥

नंदु जंपइ पढइ परकव्व
कह एस वररुइ सुकइ
कहइ मंति यह धूय सत्त वि
एयाइ कव्वाइ
पहु पढइ बालाउ हुत वि

तत्थ तुम्ह नरनाह जइ मणि वट्टइ संदेहु ।
ता पढतिय कोउगेण ता तुम्हें निसुणेहु ॥९॥

खिविवि सभिहि सलिल दीणार
गोसग्गि सुरसरि थुणइ
हणइ जतसचारु पाइण
उच्छिलिवि ते वि वररुइहि
चडहि हत्थि तेण घाइण

लोउ पइंपइ वररुइह गंग पसन्निय देइ।
मुणिवि नट्ठु वुत्ततु इहु सयडालस्स कहेइ ॥१०॥
तीइ वुत्तइ सो सनिव्वेउ
मा खिज्जसि किंचि तुह
भत्ति वन्न नेवालमंडलु
तह देइ सावउ निवइ
लक्खु मुल्लु साहुस्स कंबलु

सो तहि पत्तउ दिट्ठु निवु दिन्नइ कवल तेण।
त गोविव रुडय तलइ तो वाहुडिउ जवेण ॥११॥
तो मुक्कउ गउ दित्तु तिण कंवलु कोसहि हत्थ।
सी पेच्छतह तीइ तसु खित्त खालि अपसत्थि ॥१२॥

समणु दुम्मणु भणइ तो एउ
वहुमुल्लु कवलरयणु
कीस कोसि पइ क्खालि खित्तउ
देसंतरि परिभमिवि
मइ महत दुक्खेण पत्तउ

कोस भणइ, महापुरिस तुहु कवलु सोएसि।
ज दुल्लहु सजम-रयणु हारिस, तं न मुणेसि ॥१३॥

गयणमग्गसलग्गलोलकल्लोलपरपरु
निक्करुणुक्कडनक्कचक्कचकमणदुहकरु

उच्छलंतगुरुपुच्छमच्छरिछोलिनिरंतरु
विलसमाणजालाजडालवडवानलदुत्तरु ॥
आवत्तसयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्व ते नित्थरहि ।
नीसेसवसनगणनिट्ठवणु पासनाहु जे सभरहि ॥१४॥

आचार्य हेमचंद

गिरिहे वि आणिउ पाणिउ पिज्जइ,
तरुहें वि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ ।
गिरिहुँ व तरुहुँ व पडिअउ अच्छइ,
विसयहि तहवि विराउ न गच्छइ ॥१॥
जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ,
सत्तु वि मित्तु वि किहेंविहु आवहु ।
जहिविहु तहिविहु मग्गे लीणा,
एकऍ दिट्ठिहि दोन्निवि जोअहु ॥२॥
अम्हे निन्दहु कोवि जणु, अम्हइ वण्णउ कोवि ।
अम्हे निन्दहुँ कवि नवि, नअम्हइ वण्णहु कंवि ॥३॥
रे मण करसि कि आलड़ी, विसया अच्छहु दूरि ।
करणइँ अच्छह रुधिअइ, कड्ढउं सिवफलु भूरि ॥४॥
संजम-लीणहो मोक्खसुहु निच्छइं होसइ तासु ।
पिय वलि कीसु भणन्तिअउ णाइं पहुचहि जासु ॥५॥
कउ वढ भमिअइ भवगहणि मुक्ख कहन्तिहु होइ ।
ऍहु जाणेवउ जइ मणसि तो जिण आगम जोइ ॥६॥
निअम-विहूणा रत्तिहिवि खाहि जि कसरक्केहि ।
हुहुरु पडन्ति ति पावद्रहि भमडहि भचलक्खेहि ॥७॥
सग्गहो केहि करि जीवदय दमु करि मोक्खहो रेसि ।
कहि कसु रेसि तुहु अवर कम्मारम्भ करेसि ॥८॥

कायकुडुल्ली निरु अथिर जीवियडउ चलु एहु ।
ए जाणिवि भवदोसडा असुहउ भावु चएहु ॥९॥
ते धन्ना कन्नुल्लडा हिअउल्ला ति कयत्थ ।
जो खणिखणिवि नवुल्लडअ घुण्टहि धरहि सुअत्थ ॥१०॥
पइठी कन्नि जिणागमहो वत्तडिआवि हु जासु ।
अम्हारउँ तुम्हारउँ वि एहु ममत्तु न तासु ॥११॥

दूसरा भाग

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥१॥
ढोल्ला मइ तुहु वारिया मा कुरु दीहा माणु ।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु ॥२॥
बिट्टीए मइ भणिय तुहु मा कुरु वङ्की दिट्ठी ।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पविट्ठि ॥३॥
एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसम जाणीअइ जो नवि वालइ वग्ग ॥४॥
दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रह-वरि चडिअउ ।
चउमुहु छमुहु झाइवि एक्कहि लाइवि णावइ दइवें घडिअउ ॥
अगलिअ-णेह-निवट्टाह जोअण-लक्खुवि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ ॥६॥
अङ्गहि अङ्ग न मिलिअउ हलि अहरें अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु ॥७॥
जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अङ्गुलिउ जज्जरियाउ नहेण ॥८॥
सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ सम्माणेइ खलाइं ॥९॥
गुणहि न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहि घेप्पन्ति ॥१०॥

वच्छहे गृण्हइ फलइ जणु कडुपल्लव वज्जेइ ।
तोवि महद्दुमु सुअणु जिव ते उच्छङ्गि धरेइ ॥११॥

दूरुड्डाणे पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुँ पडिअ सिल अन्नुवि चूर करेइ ॥१२॥

जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउ कलिजुगि दुल्लहहो वलि क्रिज्जउं सुअणस्सु ॥१३॥

तणह तइज्जी भङ्गि नवि ते अवडयडि वसन्ति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइ मज्जन्ति ॥१४॥

दइवु घडावइ वणि तरुहुँ, सउणिह पक्क फलाइ ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहि खलवयणाइ ॥१५॥

धवलु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि ।
हउ कि न जुत्तउ दुहुँ दिसिहि खण्डइ दोण्णि करेवि ॥१६॥

गिरिहे सिलायलु तरुहे फल घेप्पइ नीसावँन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसह तोवि न रुच्चइ रन्नु ॥१७॥

तरुहुं वि वक्कलु फल मुणि वि परिहणु असणु लहन्ति ।
सामिहुँ एत्तिउ अग्गलिउँ आयरु भिच्चु गृहन्ति ॥१८॥

अग्गिए उण्हउ होइ जगु वाएँ सीअलु तेवँ ।
जो पुणु अग्गि सीअला तसु उण्हत्तणु केवँ ॥१९॥

विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तोवि त आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढउ जइवि घरु तो ते अग्गि कज्जु ॥२०॥

जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ ॥२१॥

सगरसएहि जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गयकुम्भइ दारन्तु ॥२२॥

तरुणहो तरुणिहो मुणिउ मइ करहु म अप्पहो घाउ ॥२३॥
भाईरहि जिवँ भारइ मग्गेहि तिहिवि पवट्टइ ॥२४॥
सुन्दर-सव्वङ्गाउ विलासिणीओ पेच्छन्ताण ॥२५॥
निअ मुह-करहि वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ।
ससि-मण्डल-चन्दिमए पुणु काइँ न दूरे देक्खइ ॥२६॥

तुच्छ-मज्झहे तुच्छजम्पिरहे ।
तुच्छच्छ रोमावलिहे तुच्छराय तुच्छयर-हासहे,
पियवयणु अलहन्तिहे,
तुच्छ-काय-वम्मह-निवासहे,

अन्नु जु तुच्छउँ तहे धणहे त अक्खणह न जाइ ।
कटरि थणतरु मुद्धडहे जे मणु विच्चि ण माइ ॥२७॥
भल्ला हुआ जु मारिआ, बहिणि महारा कन्तु ।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु ॥२८॥
वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥२९॥
कमलइ मेल्लवि अलि-उलइ करिगण्डाइं महन्ति ।
असुलहमेच्छण जाह भलि ते णवि दूर गणन्ति ॥३०॥
भग्गउ देक्खिवि निअय वलु वलु पसरिअउ परस्सु ।
उम्मिल्लइ ससि-रेह जिवँ करि करवालु पियस्सु ॥३१॥
जइ तहो तुट्टउ नेहडा मइ सहुं नवि तिल-तार ।
तं किह वङ्केहि लोअणेहि जोइज्जउ सय-वार ॥३२॥
जहि कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहि तेहइ भड-घड निवहि कन्तु पयासइ मग्गु ॥३३॥
एक्कहि अक्खिहि सावणु अन्नहि भद्दवउ ।
माहउ महिअल-सत्थरि गण्डत्थले सरउ ॥३४॥

अङ्गिहि गिम्ह सुहच्छी-तिल-वणि मग्गसिरु ।
तहे मुद्धहे मुह-पङ्कइ आवासिउ सिसिरु ॥३५॥
हियडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइ ।
देक्खउ हय-विहि कहि ठवइ पइ विणु दुक्खु सयाइ ॥३६॥
कन्तु महारउ हलि सहिए निच्छइ रूसइ जासु ।
अत्थिहि सत्थिहि हत्थिहि वि ठाउवि फेडइ तासु ॥३७॥
जीविउ कासु न वल्लहउ धणु पुणु कासु न इट्ठु ।
दोण्णिवि अवसर निवडिआइ तिण सम गणइ विसिट्ठु ॥३८॥
अङ्गणि चिट्ठदि नाहु ध्रु त्र रणि करदि न भ्रन्त्रि ।३६॥
एह कुमारी एहो नरु एहु मणोरह-ठाणु ।
एहउ वढ चिन्तन्ताह पच्छह होइ विहाणु ॥४०॥
जइ पुच्छह घर वड्डाइ तो वड्डा घर ओइ ।
विहलिय-जण-अब्भुद्धरणु कन्तु कुडीरइ जोइ ॥४१॥
आयइ लोअहो लोअणइ जाईसरइ न भन्ति ।
अप्पिए दिट्ठइ मउलइ पिए दिट्ठइ विहसन्ति ॥४२॥
सोसउ म सोसउ च्चिअ उअही वडवानलस्य किं तेण ।
ज जलइ जले जलणो आएण वि किं न पज्जत्त ॥४३॥
आयहो दड्ढ-कलेवरहो ज वाहिउ त सारु ।
जइ उट्टब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ॥४४॥
साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण ।
वड्डप्पणु परिपाविअइ हत्थि मोक्कलडेण ॥४५॥
जइ सु न आवइ दूइ घरु काइ अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु जु खण्डइ तउ सहिए सो पिउ होइ न मज्झु ॥४६॥
सुपुरिस कङ्गुहे अणुहरहि भण कज्जें कवणेण ।
जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहि तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण ॥४७॥

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
विहिंवि पयारेहि गइअ धण कि गज्जहि खल मेह ॥४८॥
भमरु म रुणुझुणि रणणडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसन्तरिअ जसु तुहुँ मरहि विओइ ॥४९॥
पइ मुक्काह वि वर-तरु फिट्टइ पत्तत्तणं न पत्ताणं।
तुम्ह पुणु छाया जइ होज्ज कहवि ता तेहि पत्तेहि ॥५०॥
महु हियउ तइ ताए तुहु सवि अन्ने विनडिज्जइ।
पिअ काइ करउ हउं काइ तुहु मच्छें मच्छु गिलिज्जइ ॥५१॥
पइ मइ बेहिंवि रणगयहि को जयसिरि तक्केइ।
केसहि लेप्पिणु जम-घरिणी भण सुहु को थक्केइ ॥५२॥
पइ मेलन्तिहे महु मरणु मइं मेल्लन्तहो तुज्झु।
सारस जसु जो वेग्गला सोवि कृदन्तहो सज्झु ॥५३॥
तुम्हेहि अम्हेहि जे किअउ दिट्ठउं बहुअजणेण।
तं तेवड्डउ समर भर निज्जुउ एक्क-खणेण ॥५४॥
तउ गुण-संपइ तुज्झु मदि तुध्र अणुत्तर खन्ति।
जइ उप्पत्ति अन्न जण महि-मंडलि सिक्खन्ति ॥५५॥
अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइजण जोण्ह करन्ति ॥५६॥
अम्बणु लाइवि जे गया पहिअ पराया केवि।
अवस न सुअहि सुहच्छिअहि जिवँ अम्हइ तिवँ तेवि ॥५७॥
मइं जाणिउ पियविरहिअहं कवि धर होइ विआलि।
णवर मिअङ्कुवि तिह तवइ जिह दिणयरु खयगालि ॥५८॥
महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झङ्खहि आलु।
देन्तहो हउ पर उव्वरिअ जुज्झन्तओ करवालु ॥५९॥

जइ भग्गा पारक्कडा तो सहि मज्झु पिएण ।
अह भग्गा अम्हहतणा तो ते मारिअडेण ॥६०॥

मुह कवरिबन्ध तहे सोह धरहि
नं मल्लजुज्झ ससिराहु करहि ।
तहे सहहि कुरल भमर-उल-तुलिअ
न तिमिरडिम्भ खेलन्ति मिलिअ ॥६१॥

बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास ।
तुह जलि महु पुणु वल्लहइ विहुवि न पूरिअ आस ॥६२॥
बप्पीहा कइ बोल्लिएण निग्घिण वारइवार ।
सायर भरिअइ विमल जलि लहहि न एक्कइ धार ॥६३॥

आयहि जम्महि अन्नहि वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तह चत्तङ्कुसह जो अब्भिडहि हसन्तु ॥६४॥
बलि अब्भत्थणि महुमहणु लहुईहूआ सोइ ।
जइ इच्छहु वड्डत्तणउ देहु म मग्गहु कोइ ॥६५॥

विहि विनडउ पीडन्तु गह मं धणि करहि विसाउ ।
सपइ कड्ढउ वेस जिवँ छुडु अग्घइ ववसाउ ॥६६॥
खग्ग-विसाहिउ जहि लहहु पिय तहि देसहि जाहुं ।
रणदुब्भिक्खे भग्गाइ विणु जुज्झे न वलाहुँ ॥६७॥
कुञ्जर सुमरि म सल्लइउ सर सास म मेल्लि ।
कवल जि पाविय विहिवसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥६८॥
भमरा एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ।
घण-पत्तलु छाया बहुलु फुल्लहि जाम कयम्बु ॥६९॥
प्रिय एम्वहि करे सेल्लु करि छड्डहि तुहु करवालु ।
ज कावालिय बप्पुडा लेहि अभग्गु कवालु ॥७०॥

दिअहा जन्ति झडप्पडहिं पडहिं मणोरह पच्छि ।
जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि ॥ ७१ ॥

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेण वि मुण्डियउ जसु खल्लिहडउ सीसु ॥ ७२ ॥
अइतुगत्तणु जं थणहं सो च्छेयहु न हु लाहु ।
सहि जइ केवँइ तुडिवसेण अहरि पहुच्चइ नाहु ॥ ७३ ॥

इत्तउं ब्रोप्पिणु सउणि ट्ठिउ पुणु दूसासणु ब्रोप्पि ।
तो हउं जाणउं एहो हरि जइ महु अग्गइ ब्रोप्पि ॥ ७४ ॥
जिव तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥ ७५ ॥

चूडुल्लउ चुण्णीहोइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानल जाल झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ ॥ ७६ ॥
अब्भड वचिउ बे पयइ पेम्मु निअत्तइ जावँ ।
सव्वासण रिउ संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥ ७७ ॥
हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।

वासा रत्ति पवासुअह विसमा सकडु एहु ॥ ७८ ॥
अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थन्ति ।
महु कंतहो समरङ्गणइ गयघड भज्जिउ जन्ति ॥ ७९ ॥
पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥ ८० ॥

त तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवहु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु ॥ ८१ ॥
जं दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहि हसिउ निसंकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयंकु ॥ ८२ ॥

अम्मीए सत्थावथेहि सुधि चिन्तिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ॥ ८३ ॥
सवधु करेप्पिणु कधिदु मइ तसु पर सभलउ जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि नय पम्हट्ठउ धम्मु ॥ ८४ ॥
जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुड्ड करीसु ।
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वङ्गे पइसीसु ॥ ८५ ॥
उअ कणिआरु पफुल्लिअउ कञ्चणकन्तिपकासु ।
गोरीवयणविणिज्जिअउ न सेवइ वणवासु ॥ ८६ ॥
प्रासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिवि गङ्गाण्हाणु ॥ ८७ ॥
केम समप्पउ दुट्ठु दिणु किध रयणी छुडु होइ ।
नव-बहु-दंसण लालसउ वहइ मणोरहं सोइ ॥ ८८ ॥
ओ गोरीमुहनिज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियंकु ।
अन्नु वि जो परिहवियतणु सो किवँ भवँइ निसकु ॥ ८९ ॥
विम्बाहरि तणु रयणवण किह ठिउ सिरि आणन्द ।
निरुवम रसु पिए पिअवि जणि सेसहो दिण्णी मुद ॥ ९० ॥
भण सहि निहुअउ तेवँ मइ जइ पिउ दिट्ठु सदोसु ।
जेवँ न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअ तासु ॥ ९१ ॥
मइ भणिअउ वलिराय तुहु केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होइ वढ सइ नारायणु एहु ॥ ९२ ॥
जइ सो घडदि प्रयावदी केत्थुवि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थुवि तेत्थुवि एत्थु जगि भण ता तहि सारिक्खु ॥ ९३ ॥
जाम न निवडइ कुभयडि सीहचवेडचडक्क ।
ताम समत्तहं मयगलहं पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥ ९४ ॥

तिलह तिलत्तणु ताउ पर जाउ न नेह गलन्ति ।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल तिल फिट्टवि खल होन्ति ॥ ६५ ॥

जामहि विसमी कज्जगइ जीवह मज्झे एइ ।
तामहि अच्छउ इयरु जणु सुअणुवि अन्तरु देइ ॥ ६६ ॥

ते मुग्गडा हराविआ जे परिविट्ठा ताहँ ।
अवरोप्परु जोअन्ताह सामिउ गञ्जिउ जाहँ ॥६७॥

वम्भ ते विरला केवि नर जे सव्वङ्ग छइल्ल ।
जो वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते वइल्ल ॥६३॥

अन्ने ते दीहर लोअण अन्नु त भुअजुअलु ।
अन्नु सु घण थणहारु त अन्नु जि मुहकमलु ॥६६॥
अन्नु जि केसकलावु सु अन्नु जि प्राउ विहि ।
जेण निअम्विणि घडिअ स गुणलायण्णनिहि ॥१००॥

प्राइव मुणिह वि भन्तडी ते मणिअडा गणन्ति ।
अखइ निरामइ परमपइ अज्जवि लउ न लहन्ति ॥१०१॥

अंसुजले प्राइम्व गोरिअहे सहि उव्वत्ता नयणसर ।
ते सम्मुह संपेसिआ देन्ति तिरिच्छी घत्त पर ॥१०२॥

एसी पिउ रूसेसु हउँ रुट्ठी मइँ अणुणेइ ।
पग्गिम्व एइ मणोरहइं दुक्करु दइउ करेइ ॥१०३॥

विरहानलजालकरालिअउ पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअओ ।
अनु सिसिरकालि सीअलजलउ धूम कहन्तिहु उट्ठिअओ॥१०४॥

महु कन्तहो गुट्ठट्ठिअहो कउ झुम्पडा वलन्ति ।
अह रिउरुहिरे उल्हवइ अह अप्पणे न भन्ति ॥१०५॥

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइं विन्निवि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥१०६॥

कन्तु जु सीहहो उवमिअइ त महु खण्डिउ माणु ।
सीहु निरक्खय गय हणइ पिउ पयरक्खसमाणु ॥१०७॥

चचलु जीविउ ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइ ।
होसइं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिससयाइ ॥१०८॥

माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज ।
मा दुज्जणकरपल्लवेहि दंसिज्जन्तु भमिज्ज ॥१०९॥

लोणु विलिज्जइ पाणिएण अरि खलमेह म गज्जु ।
बालिउ गलइ सुझुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ॥११०॥

विहवि पणट्ठइ वकुडउ रिद्धिहि जणसामन्नु ।
किपि मणाउं महु पिअहो ससि अणुहरइ न अन्नु ॥१११॥

किर खाइ न पिअइ न विद्दवइ धम्मि न वेच्चइ रूअडउ ।
इह किवणु न जाणइ जह जमहो खणेण पहुच्चइ दूअडउ ॥११२॥

जाइज्जइ तहि देसडइ लब्भइ पियहो पमाणु ।
जइ आवइ तो आणिअइ अह वा तं जि निवाणु ॥११३॥

जउ पवसन्ते सहुँ न गयअ न मुअ विओएं तस्सु ।
लज्जिज्जइ सदेसडा देन्तेहि सुहयजणस्सु ॥११४॥

एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे वडवानल आवट्टइ ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहि ओहट्टइ॥११५॥

जाउ म जन्तउ पल्लवह देक्खउ कइ पय देइ ।
हिअइ तिरिच्छी हउ जि पर पिउ डम्बरइ करेइ ॥११६॥

हरि नच्चाविउ पङ्गणइ विम्हइ पाडिउ लोउ ।
एम्वहि राह पओहरह ज भावइ त होइ ॥११७॥

साव सलोणी गोरडी नवखी कवि बिस-गण्ठि ।
भड्डु पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ॥११८॥

मइं वुत्तउं तुहुं धुरु धरहि कसरेहि विगुत्ताइं।
पइं विणु धवल न चडइ भरु एम्वइ वुन्नउ काइं ॥११६॥

एक्कु कइअ ह वि न आवही अन्नु वहिल्लउ जाहि।
मइं मित्तडा प्रमाणिअउ पइ जेहउ खलु नाहि ॥१२०॥

जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं।
जिवँ डोगर तिवँ कोट्टरइ हिआ विसूरहि काइ ॥१२१॥

जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउं तडि घल्लन्ति।
तहं संखहँ विट्टालु परु फुक्किज्जन्त भमन्ति ॥१२२॥

दिवेहि विढत्तउ खाहि बढ संचि म एक्कुवि द्रम्मु।
कोवि द्रवक्कउ सो पडइ जेण समप्पइ जम्मु ॥१२३॥

एक्कमेक्कउं जइवि जोएदि
हरि सुट्ठु सव्वायरेण
तोवि द्रेहि जहि कहिंवि राही
को सक्कइ संवरेवि दड्ढनयणा नेहि पलुट्टा ॥१२४॥

विहवे कस्सु थिरत्तणउ जोव्वणि कस्सु मरट्टु।
सो लेखडउ पट्ठाविअइ जो लग्गइ निच्चट्टु ॥१२५॥

कहि ससहरु कहि मयरहरु कहि बरिहिणु कहि मेहु।
दूर ठिआहंवि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु ॥१२६॥

कुंजरु अन्नहं तरुअरह कुड्डेण घल्लइ हत्थु।
मणु पुणु एक्कहि सल्लइहि जइ पुच्छह परमत्थु ॥१२७॥

खेड्डय कयमम्हेहि निच्छयं कि पयपह।
अणुरत्ताउ भत्ताउ अम्हे मा चय सामिअ ॥१२८॥

सरिहि (न) सरेहि न सरवरेहि न वि उज्जाणवणेहि।
देस रवण्णा होन्ति बढ निवसन्तेहि सुअणेहि ॥१२९॥

हिअडा पइ एहु वोल्लिअओ महु अग्गइ सयवार ।
फुट्टिसु पिए पवसन्ति हउ भंडय टक्करिसार ॥१३०॥

एक कुडुल्ली पञ्चहि रुद्धी
तह पञ्चह वि जुअंजुअ बुद्धी ।
बहिणुए त घरु कहिं किव नन्दउ
जेत्थु कुडुम्बउं अप्पण-छन्दउ ॥१३१॥

जो पुणि मणि जि खसफसिहूअउ चिन्तइ देइ न दम्मु न रूअउ ।
रइवसभमिरु करग्गुल्लालिउ घरहि जि कोन्तु गुणइ सो नालिउ ॥१३२॥

चलेहि चलन्तेहि लोअणेहि ते तइं दिट्ठा बालि ।
तहि मयरद्धय दडवडउ पडइ अपूरहि कालि ॥१३३॥
गयउ सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइ ।
जसु केरए हुंकारडए मुहहु पडन्ति तृणाइ ॥१३४॥

सत्थावत्थह आलवणु साहुवि लोउ करेइ ।
आदन्नह मब्भीसडी जो सज्जणु सो देइ ॥१३५॥
जइ रच्चसि जाइट्ठिअए हिअडा मुद्धसहाव ।
लोहें फुट्टणएण जिव घणा सहेसइ ताव ॥१३६॥

मइं जाणिउ बुड्डीसु हउ प्रेमद्रहि हुहुरुत्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिय विप्पिय नाव झडत्ति ॥१३७॥
खज्जइ नउ कसरक्केहि पिज्जइ नउ घुण्टेहिं ।
एवइ होइ सुहच्छडी पिए दिट्ठे नयणेहि ॥१३८॥

अज्जवि नाहु महु ज्जि घर सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउं जि विरहु गवक्खेहि मक्कडुघुग्घिउ देइ ॥१३९॥
सिरि जरखण्डी लोअडी गलि मनिअडा न वीस ।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस ॥१४०॥

अम्म।ड पच्छायावडा पिउ कलहिअउ विआलि।
घइ विवरीरी बुद्धडी होइ विणासहो कालि ॥१४१॥
ढोल्ला एह परिहासडी अइ भण कवणहि देसि।
हउं झिज्जउं तउ केहि पिअ तुहुं पुणु अन्नह रेसि ॥१४२॥

सुमिरिज्जइ त वल्लहउं ज वीसरइ मणाउ।
जहि पुणु सुमरणु जाउ गउ तहो नेहहो कइ नाउं ॥१४३॥

जिब्भिन्दिउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइ।
मूलि विणट्ठइ तुंविणिहे अवसें सुक्कइं पण्णइ ॥१४४॥
एक्कसि सीलकलकिअहं देज्जहि पच्छित्ताइं।
जो पुणु खण्डइ अणुदिअहु तसु पच्छित्ते काइं ॥१४५॥

विरहानलजालकरालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ।
तं मेलवि सव्वहि पंथिअहिं सो जि किअउ अग्गिट्ठउ ॥१४६॥

सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमासंधिहि वासु।
पेक्खिवि वाहुवलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु ॥१४७॥
पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
असूसासेहिं कञ्चुआ तितुव्वाण करन्त ॥१४८॥

पिउ आइउ सुअ वत्तडी—झुणि कन्नडइ पइट्ठ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआवि न दिट्ठ ॥१४९॥
सन्देसें काइ तुहारेण ज सगहो न मिलिज्जइ।
सुइणन्तरि पिए पाणिएण पिअ पिआस कि छिज्जइ ॥१५०॥

एत्तहे तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसण्ठुल धाइ।
पिअपव्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिवि न ठाइ ॥१५१॥

एउ गृण्हेप्पिणु ध्रु मइ जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउ किपि णवि मरिएव्वउं पर देज्जइ ॥१५२॥

देसुच्चाडणु सिहिकढणु घणकुट्टणु ज लोइ ।
मञ्जिट्ठए अइरत्तिए सव्व सहेव्वउं होइ ॥१५३॥
हिअडा जइ वेरिअ घणा तो कि अब्भि चडाहु ।
अम्हाहि वे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहु ॥१५४॥
रक्खइ सा विसहारिणी वे कर चुम्बिवि जीउ ।
पडिबिंबिअमुंजालु जलु जेहि अडोहिउ पीउ ॥१५५॥
बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउँ तेवँइ को दोसु ।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाताउँ मुंज सरोसु ॥१५६॥
जेप्पि असेसु कसायबलु देप्पिणु अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहि झाएविणु तत्तस्सु ॥१५७॥
देव दुक्करु निअयधणु करण न तउ पडिहाइ ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणह मणु पर भुञ्जणहि न जाइ ॥१५८॥
जेप्पि चएप्पिणु सयल घर लेविणु तवु पालेवि ।
विणु सन्ते तित्थसरेण को सक्कइ भुवणेवि ॥१५९॥
गंप्पिणु वाणारसिहि नर अह उज्जेणिहि गप्पि ।
मुआ परावहि परमपउ दिव्वन्तरहि म जम्पि ॥१६०॥
गग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ गमेप्पि ।
कीलदि तिदसावास गउ सो जमलोउ जिणेप्पि ॥१६१॥
रवि अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु ।
चक्के खण्ड मुणालियहे नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥१६२॥
वलयावलि-निवडण-भएण धण उद्धब्भुअ जाइ ।
वल्लहविरह-महादहहो थाह गवेसइ नाइ ॥१६३॥
पेक्खेविणु मुहु जिणवरहो दीहरनयण सलोणु ।
नावइ गुरुमच्छरभरिउ जलणि पवीसइ लोणु ॥१६४॥

चम्पयकुसुमहो मज्झि सहि भसलु पइट्ठउ ।
सोहइ इन्दनीलु जणि कणइ वइट्ठउ ॥१६५॥
अब्भा लग्गा डुङ्गरहि पहिउ रडन्तउ जाइ ।
जो एहा गिरिगिलणमणु सो कि धणहे धणाइ ॥१६६॥
पाइ विलग्गी अंत्रडी सिरु ल्हसिउ खन्धस्सु ।
तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउँ कंतस्सु ॥१६७॥
खिरि चडिआ खन्ति फ्फलइ पुणु डालइ मोडन्ति ।
तो वि महद्दुम सउणाहं अवराहिउ न करन्ति ॥१६८॥

परिशिष्ट

महाकवि कालिदास

गंध से उन्मत्त भ्रमरो के गुंजन, तथा बजती हुई, कोयल रूपी तुरही के साथ, विविध प्रकार से, वह कल्पवृक्ष अत्यत सुदर नृत्य कर रहा है, उसकी फैली हुई डालियाँ और पल्लव पवन से हिल डुल रहे है ॥१॥

हे मयूर ? तुमसे मेरी प्रार्थना है कि यदि इस अरण्य मे तुमने भ्रमण करती हुई, मेरी प्रियतमा को देखा हो तो मुझसे कहो। सुनो, तुम उसे उसके चंद्रमुख और हसगति से पहचान सकते हो इस लिए मैने तुमसे पूछा ॥२॥

अरी दूसरो से पालीजानेवाली कोयल ? यदि तूने मधुर-भाषिणी मेरी प्रियतमा को, नंदनवन मे, स्वच्छंद विहार करते हुए देखा हो, तो मुझे बता ॥३ अ॥

रे रे हस, तूं मुझसे क्या छिपा रहा है। तेरी चाल से ही मै जान चुका हू कि तूने मेरी जघनभरालस प्रियतमा को अवश्य देखा है। नही तो तुझ जैसे गति के लालची को इतनी सुदर चाल की शिक्षा किसने दी ॥३ ब॥

गोरोचनकुंकुम के समान वर्णवाले हे चकवे, तुम बताओ ? "क्या तुमने वसंत के दिनो मे खेलती हुई हमारी प्रियतमा को देखा है ?" ॥४॥

अपने ललित प्रहार से वृक्षों को उखाड़ डालने वाले हे गजवर ? मैं तुमसे पूंछता हूं ? क्या तुमने चंद्रकांति को लज्जित करनेवाली मेरी प्रियतमा को सामने जाते हुए देखा है। ॥५॥

मोर, कोयल, हंस, पक्षी, भ्रमर, हाथी, पर्वत, नदी, और हिरन, इनमें से, किससे, तुम्हारे कारण वन मे भटकते हुए, मैंने रोकर नही पूंछा ॥६॥

सरहपाद:

यदि नंगे रहने से मुक्ति होती, तो कुत्तो और सियारों को भी मिल जाती। यदि रोम उखाड़ने से मुक्ति होती तो युवती के नितम्बो को भी मिल जाती। यदि पंख लेने से मुक्ति होती तो मोरो और चमरियो को मिल जाती। यदि जूठा भोजन करने से ज्ञान होता तो हाथियों और घोड़ो को मिल जाता। सरह, कहते है कि क्षपणो को मोक्ष मिलना तो मुझे किसी प्रकार समझ नहीं पडता। यह शरीर तत्त्वरहित है, बस मिथ्या ही वे इसे विविध प्रकार की पीडा दिया करते है।

आचार्य देवसेन

दुर्जन संसार में सुखी हो। जिसने सुजन को उसी प्रकार प्रकाशित किया जिस प्रकार विष अमृत को, अंधकार दिन को, और कांच मरकतमणि को प्रकाशित करता है ॥१॥

जिस साधु मे संयम शील शौच और तप है, वही गुरु है क्योंकि दाह छेद और कश-घात के योग्य ही कंचन, उत्तम होता है ॥२॥

यदि देखना भी छोड दिया है, तो हे जीव ? तभी सचमुच जुए को छूटा समझो, आग को पानी से ठंडा कर देने पर अवश्य धुंआ नहीं उठता। ॥३॥

रसना ही अनर्थों का मूल है जिसने इसे उत्पादित कर डाला उसने सब धन और कुटुम्ब को खीन खाया. मांस ही खा लिया ॥४॥

धनिकों का धन वेश्या से लगता है, और बन्धु मित्र, सब छूट जाते हैं, वेश्या के घर में प्रवेश करनेवाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है ॥५॥

परस्त्री बहुत बड़ा बंधन ही नहीं, अपितु वह नरकनसैनी भी है, विषवल्ली मूर्छित ही नहीं करती, किन्तु प्राणों की भी हानि कर डालती है ॥६॥

यदि पराभिलाषा का निवारण हो गया तो परदारा का त्याग हुआ। नायक को जीत लेने पर, समस्त स्कंधावार (सेना) विजित हो जाती है ॥७॥

व्यसन तो तब छूटेंगे, हे जीव ? जब आसक्त मनुष्यों का परिहार किया जाय। क्योंकि देखो, सूखे वृक्षों के सम्पर्क से हरे रूक्ष भी हो जाते हैं ॥८॥

मान के कारण, पराई स्त्री सीता की इच्छा रखने से, रावण का नाश हुआ। दृष्टि विष दृष्टिमात्र से मार डालता है, उससे डसे जाने पर तो कौन जी सकता है ॥९॥

पशु धन धान्य खेती इनमें परिमाण से प्रवृत्ति कर बंधनों में बहुत बल (आंटा) होने से उनका तोड़ना कठिन हो जाता है ॥ १० ॥

हे जीव भोगों का भी प्रमाण कर। इन्द्रियों को बहुत अभि-मानी मत बना। काले सांपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता ॥ ११ ॥

मद्य मांस और मधु का जो त्याग करे, आजकल वही श्रावक है, क्या बड़े वृक्षो से रहित एरंडवन मे छांह नही होती ॥ १२ ॥

जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है यह कहना ठीक नहीं है, गाय को घास-भूसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नही देती ॥ १३ ॥

बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे कभी दूसरो के प्रति भी मत करो, यही धर्म का मूल है ॥ १४ ॥

सौ शास्त्रो को जान लेने से भी विपरीत ज्ञानवाले के मन पर धर्म नही चढ़ता। यदि सौ सूर्य्य भी ऊग आवे तो भी घुग्घु अंधा ही रहेगा ॥ १५ ॥

निर्धन मनुष्य के कष्ट सयम मे उन्नति देते है। उत्तमपद मे जोड़े हुए दोष भी गुण हो जाते है ॥ १६ ॥

पाचो इन्द्रियों के विषय मे ढील मत दो। दो का निवारण करो। एक जीभ को रोक और दूसरी पराई नारी को ॥ १७ ॥

गुरुवचन रूपी अंकुश से खीच, जिससे मद्वापन को छोड़ कर, मनरूपीहाथी संयमरूपी हरेभरे वृक्ष की ओर मुख मोड़े ॥ १८ ॥

शत्रु भी मधुरता से शात हो जाता है और सभी जीव वश मे हो जाते है। त्याग कवित्व और पौरुष से पुरुष की कीर्ति होती है ॥ १९ ॥

अन्याय से लक्ष्मी आ जाती है, पर ठहरती नहीं। उन्मार्ग पर चलने वालो का पाव कांटो से भग्न होता है। ॥ २० ॥

अन्याय से बलवानो का भी जब क्षय हो जाता है तो क्या दुर्बल का न होगा, जहाँ हवा से गज भी उड़ जाते है वहाँ क्या कुत्ती ठहर सकती है ॥ २१ ॥

अन्याय से दरिद्रों की आजीविका भी टूट जाती है, जीर्ण वस्त्र पांव पसारने से फटेगा ही, इसमें सदेह नही ॥ २२ ॥

दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी, जिसने उसे भोगो मे समाप्त कर दिया उसने मानो लोहे के लिए दुस्तरतारिणी नाव तोड डाली ॥ २३ ॥

आचार्य पुष्पदंत

आचार्य पुष्पदंत अपभ्रंशभाषा के सर्वश्रेष्ट और स्वतंत्र चेता कवि थे। वाणी उनकी जीभ पर नर्तित रहती थी, उनके अनेक उपनामो मे, काव्य-पिशाच और अभिमान-मेरू भी उनके उपनाम थे, इनसे उनकी असाधारण काव्यप्रतिभा और अक्खड़स्वभाव का पता चलता है। महापुराण की उत्थानिका मे वह लिखते है कि गिरिकद-राओ मे घास खाकर रहना अच्छा, पर दुर्जनो की टेढ़ीभौहे देखना ठीक नही।[1] इन पंक्तियों से ऐसा जान पड़ता है कि कवि को अपने जीवन मे अपमान के दिन देखने पडे थे। उत्तरपुराण के अंत मे अपना परिचय देते हुए कवि ने अपने लिए काश्यप गोत्री और सरस्वतीविलासी कहा है।[2] अंतिमदिनो मे आचार्य पुष्पदंत मान्यखेट मे महामंत्री 'भरत' के निकट अत्यधिक सम्मानित होकर रहे। पर कंचन और कीर्ति से वह सदैव निर्लिप्त

---

(१) तं सुणिवि भणइ अहिमाण मेरु
वर खज्जइ गिरिकंदरि कसेरू
णउ दुज्जन भउँहावकियाइ
दीसतु कलुसभाव कियाइ

(२) केसवपुत्ते कासवगोत्ते
विमल सरासइ जणिय विलासे

थे, नीचे की पंक्तियो मे उनकी अक्खड़प्रकृति और निसंग चित्तवृत्ति साफ झलक उठती है "मै धनको तिनके के समान गिनता हूँ, उसे मै नही लेता। मै तो अकारण प्रेम का भूखा हूँ, और इसी से तुम्हारे महल मे हूँ।"[१] मेरी कविता तो जिन चरणो की भक्ति से मुकुलित है, जीविकानिर्वाह के ख्याल से नही। विविध वाङ्मय के वह महान् पडित थे, महाकवि कालिदास ने काली की उपासना करके काव्यप्रतिभा प्राप्त की थी, परंतु आचार्य पुष्पदंत ने अपने पाडित्य के गर्व मे सरस्वती से यह कहने का साहस कर डाला कि हे देवी? अभिमानरत्ननिलय पुष्पदंत के विना तुम कहॉ जाओगी, तुम्हारी क्या दशा होगी।[२] यह साहस साधारण प्रतिभा का काम नही। पर साथ ही, दूसरी पंक्तियो मे उनकी विनम्रता देखिए, 'वह कहते है—न मुझमे बुद्धि है न श्रुतसंग है। और न किसी का बल है"।[३] कवि का शरीर दुबलापतला था, पर कुरूप होकर भी वह हसमुख रहते थे।

अपभ्रंश मे उनकी तीन रचनाए बहुत प्रसिद्ध है,—'महापुराण' मे १०२ संधियॉ (सर्ग) है। यह महाकाव्य है जो दो खंडो मे विभाजित है, आदि पुराण ओर उत्तरा पुराण। इसके निर्माण में पूरे छ

---

(१) धणु तणुसमु मज्झु ण तं गहणु
णेहु निकारिमु इच्छमि
देवीसुअ सुदणिहि देण हउ णिलए तुम्हारए अच्छमि
मज्झु कइत्तणु जिणपयभत्तिहे पसरइ णउ णियजीवियवित्तिहे

(२) भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे काले कलौ साम्प्रत
क यस्यस्यभिमानरत्ननिलय श्रीपुष्पदत विना।

(३) णहु महु बुद्धिपरिग्गहु णहु सुयसगहु णउ कासु वि केरउ बलु ?

वर्ष लगे, यह अपभ्रंश ही नहीं, अपितु भारतीयसाहित्य का बहुत भारी काव्यग्रथ है। णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ दोनों खडकाव्य है। इनमे नागकुमार और यशोधर, दो व्यक्तियों का जीवन-चरित्र अंकित है। इसके अतिरिक्त, कवि के एक कोष ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है, सचमुच आचार्य पुष्पदंत अपभ्रशभाषा के तुलसी और कालिदास थे। संस्कृत मे कविता करने की क्षमता होते हुए भी उन्होंने लोकभाषा मे कविता करना ठीक समझा।

सरस्वती वंदना

जो द्विविध (शब्द और अर्थ) अलकारो से स्फुरायमान् है, सुदरशब्दविन्यास से जिनकी पद रचना अत्यन्त कोमल है। महाकाव्य मे भी जो क्रीड़ापूर्वक सचरण करती है, जो समस्त विशिष्ट ज्ञान को धारण करती है, जो सभी देशो की भाषाओं को बोलती है तथा उनके विशेषलक्षणो को दिखाती है, जो अतिप्रस्तारवाले छदोमार्ग से जाती है, और प्रसाद आदि दस गुणो से जीवन ग्रहण करती है। जो नवरसो से परिपुष्ट है और समास तथा विग्रह से शोभित है। जो चौदहपूर्व और बारह अग तथा जिनमुख से निकलीहुई सप्तभगीमय हैं। व्याकरण की वृत्ति से जिनका नामाधिकार प्रकट होता है। मन को उल्लसित करने वाली, ऐसी सरस्वतीदेवी मुझ पर प्रसन्न हो। वहाँ मान्यखेट नगर है, जो महलो की ऊँची शिखरो से बादलो को रोक लेता है, और जो कृष्णराय के करतल मे स्थित तलवाररूपी वाहिनी से अत्यत दुर्गम है। नोट—[यह अवतरण श्लेष काव्य

नर और नारी

मेघ इन्द्रधनुष की कांति से सोहते है और श्रेष्ठ पुरुष सच्ची बात से। कविजन कथा सुबद्ध करने से सोहते है, और साधु, विद्या की सिद्धि होने से। श्रेष्ठ मुनि मन की शुद्धि से शोभित होते है और राजा निर्मलबुद्धि से। मंत्री मन्त्रविधि को ठीक देखने से शोभित होता है और अनुचर तलवाररूपी यष्टि धारण करने से। वर्षारितु धान्य की समृद्धि से सोहती है और वैभव, परिजनो की समृद्धि से। मनुष्य की शोभा गुणरूपी सम्पत्ति से है और कार्यारंभ की शोभा, उसकी समाप्ति से है। वृक्षो की शोभा फूलो से है और सुभट की शोभा पौरुषप्रदर्शन से। माधव की शोभा उरुतल की लक्ष्मी से है और वर की शोभा विपुल, पति-योग्य वैभव से। स्त्री, सरासन के समान मनुष्य के शरीर को भा से भास्वर क्यो नहीं करती? जो स्त्री गुणवती है, पुरुष के हाथ में है, और शुद्ध वंश की है तथा और भी जिसमे अनेक गुण होते है, धनुष भी, (गुण) प्रत्यञ्चावाला, मनुष्य के हाथ से सोहता है, और वह, शुद्ध वांस का भी होता है।

नागकुमार और दुर्वचन का युद्ध

खड्ग से छेदते है, शिलाओ से भेदते है, बाणो से वेधते है ढालो से रोकते है, पाशो से बांधते है, दडो से चूर चूर करते है, सूलो से वेधते है, दुर्मट से दबोचते है. गिराते है, मोड़ते है लोटते है, घुटते है। रोप से अभिभूत होकर सेनाएं जूझती हैं, इसी बीच, सज्जन में प्रसन्नता व्यक्त करने वाले किसी पुरुष ने उस साहसी बालक (नागकुमार) से कहा कि स्त्री के निमित्त मारने की इच्छा रखनेवाले, दुर्वचन नामक राजा ने, श्रेष्ठ गज पर

आरूढ आपको रोक लिया है। यह सुनकर नागकुमार चौंक उठा। वह रोष से शीघ्रता करने लगा, और नीलगिरि हाथी पर चढकर रुचिकर, कवच से युक्त और युद्ध के लिए सन्नद्ध, उससे भिड़ गया। प्रभु को देखकर भय से कॉपता हुआ वह भट (दुर्वचन) हाथी की पीठ से उतर कर नागकुमार के पैरो पर गिर पडा और बोला कि मै दैव के द्वारा ठगा गया हूँ।

(णायकुमार चरिउ)

यशोधरराजा

जो त्याग मे कृष्ण, वैभव मे इन्द्र, रूप मे कामदेव और काति मे चंद्रमा है। यम की तरह जो प्रचड घात करता है। शत्रुरूपी वृक्षो के निर्दलन मे, जो बल से, वायु के समान है। ऐरावत की सूँड की तरह, जिसके बाहू स्थूल और प्रचड हैं। प्रत्यन्तराजो मे जो मणिस्वरूप है। जिसकी चोटी भ्रमरसमूह की तरह नीली सोहती है। जो समर्थ भटो मे श्रेष्ठ व्यक्ति है। जहॉ गोपुर मे किवाड़ लगे हैं और जहॉ अनेक वस्तुए हैं, शक्तित्रय की सम्हाल मे जो अत्यन्त दक्ष है, और लाखो लक्षणो से अकित है, जो प्रसन्नमूर्ति है, और जिसकी वाणी मेघ की तरह गम्भीर है। इस प्रकार मत्री और सामतो की सहायता से वह राज्य और प्रजा का पालन करता था। इसी काल मे धनधान्य मे पूरित राजपुर नगर मे, एक कापालिक कुलाचार्य आए।

मानव शरीर

मनुष्यशरीर दुखो की पोटली है। बार बार धोने पर भी वह खराब हो जाता है। बार बार सुवासित करने पर भी उसका मल सुरभित नहीं होता, बार बार पोषण करने पर भी उसमे बल नहीं

आता। बार-बार तुष्ट करने पर भी अपना नही होता। बार-बार ठगे जानेपर भी घर गिरस्ती मे लगता है। बार-बार भूषित करने पर भी सुहावना नही लगता। बार-बार मंडित करने पर भी भयकर रहता है। बार-बार रोके जाने पर भी घरबार मे रमता है, बोल बोलकर दुखी होता है। बार-बार चर्चित करने पर भी ग्लानिमय दिखता है। बार-बार विचार करके भी मरण से त्रसित होता है, पुनः पुन देखकर भी सब कुछ खा लेता है। सिखाने-सिखाने पर भी गुणो मे नही रमता, बार-बार दुखी होकर भी शमता भाव नहीं धारण करता, पुनः पुनः वारित करने पर भी पाप करता है, बार बार प्रेरित करने पर भी धर्माचरण नही करता, पुन' पुन. मर्दन करने पर भी इस शरीर का स्पर्श, रोगी की तरह, रूखा रूखा रहता है। बार बार मलने पर भी वायु मे घुलता रहता है, सिंचित करने पर भी पित्त से जला करता है, शोपित रखने पर भी कफ वढता जाता है। सयत आहार करने पर भी कोढी हो जाता है, चाम मे आवद्ध होकर काल से सड़ा करता है, रक्षित रखनेपर भी यम के मुह मे पड जाता है, इस प्रकार क्रोध करके मनुष्य, मरकर नरक मे पड़ता है, फिर भी हम जैसे मूर्ख तरुणी के वशीभूत होकर, परस्त्रियो मे रमण करते है।

'जसहरचरिउ'

कवि की प्रस्तावना

सफेद दंतपंक्ति से अपना मुख धवल करके उत्तम वाणी के विलास मे (कवि) कहता है—लक्ष्मी चाहनेवाले पुरुषसिंह, हे देवीनंदन ? क्या काव्य किया जाय ? घनदिवस, किरणो से वर्जित होता है, और दुर्जन, वाणी से। इन्द्रधनुष डोरीरहित होता

है। जहाँ चार अंगुल के हरे तृण है, और पुष्टकनवाले तथा वालो से युक्त धान्य की जहां खेती है। जहां पर चूने से पुते प्रासाद है, और नेत्रो को आनंद देनेवाले समृद्ध नगर और राजगृह है, जो, मानो कुलधररूपी स्तनोवाली धरतीरूपी स्त्री के आभूषणो की तरह, व्याप्त है। जहा सकेत से ही विरही जन आ जाते हैं, और जहां अशोक वृक्षो के साथ चम्पक वृक्ष भी प्रवर्धित है, जहा लोगो के द्वारा नाना प्रकार के फल दिए जाते हैं, मानो वे धर्मोज्वल कुल हो। जो मधु के गंडूषो से सिंचित, भूले हुए आभरणों से अंचित, सीमंतिनियो के पादपद्मो से ताड़ित और विकसित वृक्षो से वृद्धि को प्राप्त है। जहा प्रियसम्मत सुखद, पनसवृक्ष के आसन है, जहां वाण और असन वृक्ष (बीजक) दिखाई देते हैं। जहा स्खलितगृय की प्रभा में लोग विचरण करते है, मानो प्रभा में विचरते हुए उद्यान ही हो। जहा उत्कलिका-वाले नवीन ताल वृक्ष हैं जो ऐसे मालूम होते है मानो सज्जनो के स्वच्छमन हो। जहां कटककराल को मनुष्यों ने लुंचित कर दिया है, कमल का मृणाल जहाँ पानी में छिपा है, पर उसका विकसित कोंप बाहर है, कहो कौन अपने गुणो से दोषो को नहीं ढकता। जहां भ्रमर उसीपर बैठा हुआ, श्री के नेत्रांजन की भांति सोहता है। पवन से प्रेरित, मिली हुई, कुसुम की रेणु सुवर्ण की तरह भासित होती है।

संसार की नश्वरता

नाना शरीरो का संहार करनेवाले इस दारुण ससार में दो दिन रहकर कौन नरवर चलते नहीं बने। परमेश्वर ही समता प्रकाशित करता है; धन, इन्द्रधनुषी आभा की तरह क्षणभर में नष्ट हो जाता है; घोड़े हाथी रथ और योद्धा तथा धवल-

यदि कहना पर्याप्त हो, तो राजा तुम्हारे ऊपर चढ़ाई करेगा। और प्रात रणक्षेत्र मे करवाल सूल और सब्बलो से तुम्हारा पीछा करेगा।

भरत और बाहुबलि का युद्ध

शीघ्र गुरु रणभेरी बजने लगी, मानो त्रिभुवन को मारकर लील जायगी। शीघ्र ही स्वाभिमानी बाहुबलि निकल पड़े, शीघ्र ही, उधर से चक्रवर्ती (भरत) भी आ गये। शीघ्र ही काल ने दीर्घ जीभ निकाली मानो मनुष्य का मास खाने की इच्छा से उसने उसे फैलाया हो। नारी नर और बालको का जीवन निरीह हो उठा। पहाड डोलने लगे और वन मे शेर दहाड़ने लगे। शीघ्र, योद्धाओ के भार से धरती डगमगाने लगी। शीघ्र ही प्रहारो के कारण सूर्य हस पडा चद्रन्बल की सेनाए देखने लगी। शीघ्र दोनो ओर की सेनाए दौड़ने लगी। शीघ्र ही, मत्सरचारी बढने लगे, और शीघ्र ही कोस कोस तक खड्ग निकाले जाने लगे। शीघ्र ही हाथ मे चक्र घूमने लगा। शीघ्र ही अनुचरो द्वारा सेलें घुमाई जाने लगीं। शीघ्र ही सामने भाले रखे जाने लगे। दिशाओ के मुख धूमिल हो उठे। कोई, शीघ्र मुट्ठी मे लघुदड ले रहा है। और कोई पखो से उज्वल वाण प्रत्यचा पर चढ़ा रहा है। कायर शीघ्र थरथराते प्राण लेकर भागे। शीघ्र रथ विमान की तरह चलाए जाने लगे। शीघ्र ही महावत अपने पैर से हाथी को प्रेरित करने लगा, और शीघ्र घुड़सवार घोड़े को चलाने लगा। इस प्रकार धरती के लिए, एक दूसरे की सेना परस्पर प्रहार करने लगी, इसी बीच मे, हाथ उठाकर कुछ बोलते हुए महामंत्री ने प्रवेश किया।

पश्चाताप (बाहुबलिद्वारा)

यह शरीर हिमाहत कमलसर की तरह है। अथवा दव-दग्ध छाया-विहीन पेड़ की तरह। एक भी दिन, जो प्रभुमुख को म्लान देखता है तो कहता है कि मै ही एक निकृष्ट हू। चक्रवर्ती मेरे गोत्र का स्वामी है जिसने अनेक भाइयो का तिरस्कार किया है। हा ! क्या किया जाय, यह मेरा ही भुजबल है, जो सुधियो के लिए दुर्नयकारक हुआ। यह धरती, पहले किसके द्वारा नही भोगी गई। राज पड़ा रह जाता है और इसी राज के लिए प्रियजनो का विघात किया जाता है, बधुओ को विष दिया जाता है, जिस प्रकार भौरा गध के लोभ मे पडकर मारा जाता है, उसीप्रकार राज के फेर मे पडकर मनुष्य। योद्धा सामत मत्री और भाई, विचार करने पर, ये सब पराए है, तडुल और दूध के लिए, हे राजन् ! अज्ञान से मनुष्य, नरक मे क्यो पडते है, राज नष्ट हो जाता है, और दुख भारी हो जाता है। यदि उसमे सुख होता तो उससे मुक्त क्यो होते ? सुखनिधि- भोग-भूमि सम्पत्ति कल्पवृक्ष और कुल कहां गए ?

पाप का लांछन दुर्लघनीय है, उसका अत दु सह और खोटा होता है कहो, यम के दाढरूपी पजर मे पड़कर कौन व्यक्ति जीवित उबर सका है। स्थिरकाम से क्या ? पापीजन के शास्त्र सुनने से क्या ? निर्लज्ज कुलपुत्र से क्या, और तपरहित सिद्धान्त से क्या ? जिसमे समताभाव नहीं ऐसे मनुष्य से क्या चाहे वह विद्याधर और किन्नर भी हो ? धरणीतल का अन्तराल पूरने से क्या और लुब्धको का धन लेने से क्या ? रात वही है जो चद्र से स्फुरायमान हो, और स्त्री वही है जो पति का हृदय रंजित करे, विद्या वही है जो यथेच्छ रूप से ले जाय, राज

वही है जहां बुधजन को आश्रय मिले, पडित वे है जो पडितो से मत्सरभाव नही रखते, मित्र वही है जो सदा साथ देते हैं। धन वही है जो दे देकर भोगा गया है, श्री वही है जो गुणनय-शालिनी हो, गुण वे है, जिनके जाने पर गुणियो का हृदय विदीर्ण हो जाय, और गुणी, मै उसको मानता हूं, और बार-बार उसका वर्णन करता हूँ, कि जो दीन का उद्धार करे।

श्रोत्रिय कौन ?

वाणिज्य मे जो रत है उसे वैश्य समझो और जो खेती करते है उसे कृषक कहा जाता है। श्रोत्रिय वह है जो जिनवर को पूजता है, श्रोत्रिय वह है जो सम्यक तत्त्व का कथन करता है। श्रोत्रिय वह है जो दुष्ट वचन नही बोलता। श्रोत्रिय वह है जो पशु को नही मारता। श्रोत्रिय वह है जो हृदय से स्वच्छ है, श्रोत्रिय वह है जिसकी परमार्थ मे रुचि है, श्रोत्रिय वह है जो मांस भक्षण नहीं करता। श्रोत्रिय वह है जो सुजन से वकवाद नही करता, श्रोत्रिय वह है जो मनुष्यो को रास्ते से लगाता है, श्रोत्रिय वह है जो सुतप का आचरण करता है, श्रोत्रिय वह है जो संतो को नमन करता है. श्रोत्रिय वह है जो झूठ नही बोलता, श्रोत्रिय वह है जो मद्य नही पीता, श्रोत्रिय वह है जो कुगति का वारण करता है,

जो तिल कपासादि द्रव्य विशेप का होम करके देवग्रह को प्रसन्न करता है, जो पशुओ और जीवो को नही मारता, मारने वालो को रोकता है और पर को अपने समान समझता है, वह श्रोत्रिय है ?

नीति कथन

विना पानी की तलवार और मेघ से क्या ? विना फल के

तीर से क्या ? द्रवरहित मेघ और काम से क्या ? तप रहित मुनि और कुल से क्या ? नीरस काव्य और नट से क्या ? पराधीन राज्य और भोग से क्या ? व्ययरहित द्रव्य से क्या, और व्रतरहित भव्य से क्या ? दया रहित धर्म और राजा से क्या ? विना बाणो के तूणीर से क्या और विना धान्य के कनिश से क्या ? विना गुणो के चंद्रमा और पुरुप से क्या ? मै निर्गुण और बीच का पुत्र हूँ, जिसने कपट से आप को चोट पहुचाई, खिले हुए कमल के समान मुख द्वारा आपके इस पुत्र ने प्रलाप किया ? यौवन उपवन धन परिजन नगर सुरभिचूर्ण और सीमतिनियो का स्तन-मर्दन सब व्यर्थ है। जहा सज्जनो से भी वैर होता है ? वहा, हे पितृव्य ! मै नही रहूँगा ? मेरे पिता ने तुम्हें पृथ्वी दी है आप राजा है, आप को जो रुचे वह करे। मुझे तो वहाँ कही जाना चाहिए, जहा विंध्यपर्वत मे दिगम्बर मुनि रहते है। यह सुनकर राजा ने चित्त मे अवहेलना की। तो भी पुत्र ने दूसरे के लिए राज्य का त्याग कर दिया।

युद्ध वार्तालाप

कोई योद्धा कहता है कि प्राण जांय तो जाय परन्तु प्रभु का प्रताप स्थिर रक्खूगा। कोई योद्धा कहता है कि यदि प्रचंड शत्रु भी चढ़कर आयगा तो मैं आज उसे खड खड कर दूँगा। कोई योद्धा कहता है कि मै यत्रसज्जित हाथीदाँतो को हिन्दोलित कर दूँगा। कोई योद्धा कहता है कि जरा मुझे नहा लेने दो, पवित्र देह से प्राणदान अच्छा ? कोई योद्धा कहता है कि हसी क्या करते हो सिर देकर मै उऋण होऊंगा। कोई भट कहता है—जहाँ मुंड

योद्धा सुरापान करके मत्तवाणी बोलता है—मैं रण में मोक्षगामी नर-सस्तुत बाण दिखाऊगा। कोई योद्धा कहता है कि मै असिरूपी कामधेनु से यशरूपी दूध दुहूँगा। कोई योद्धा कहता है कि चाहे मै छिन्न भिन्न हो जाऊं तो भी मेरा पैर शत्रु के सम्मुख पड़ेगा। कोई योद्धा सरासन के दोष को दूर करता है, और सरपत्रो को उज्वल करके रख रहा है। किसी योद्धा के दोनो बाजू मे तूणीर कसे है मानो गरुड़ के पख उड़कर पड गए हो, कोई योद्धा सुन्दर वाणी मे कहता है कि तुम्हारे और मेरे सौभाग्य को साक्षी है कि दूसरे के बल का सामना कर और शत्रु का शिर उतारकर जो यदि राजा को न दूँ तो दुखो को हरनेवाले घोर जिनतप का वन मे प्रवेश कर आचरण करूँगा।

हनुमान रावण का संवाद

गजाधिप पर आरूढ होकर मयूर के कंठमार्ग को कौन चाहता है और कौन, कोपाध होकर मृगो के दुर्ग को (आत्मरक्षार्थ) चाहता है। समुद्र क्या अपनी मर्यादा को छोड़ता है, महिपति क्या दूसरे की स्त्री का अपहरण करता है, यदि दीपक ही अंधेरा करने लगे तो क्या पहाड़-खड प्रकाश करेगा। यदि तुम ही कुकर्म का आचरण करते हो और कुमार्ग मे बहते हुए अपने चित्त को नहीं रोकते, यदि जहाँ रक्षण की जगह भय उत्पन्न होने लगे तो जन किसके पास जयलाभ करेगे। दूसरे की स्त्री का अपहरण करनेवाला और भी नानाविध दुःख उठाता है। यह सुनकर लंकेश्वर बोला—'इस रड-कहानी को कौन सुने। पहले तो जनक हमारा किकर है और फिर राम, दशरथ, भी किकर है। फिर भी उसने उसको सीता दे दी, इसे मै कैसे क्षमा कर दूँ? गृहदासी सीता से रमण क्यो न करूँ? 'वह पहले

मुझे प्राप्त हुई थी, किन्तु रघुनाथ को दे दी गई। बाद मे मृग के छल से नयपुरुष की पत्नी, सीता को मै हर ले आया।

राम की प्रतिज्ञा

गिरि, सिंह से भय उत्पन्न करता हुआ सोहता है, और प्रभु (राम) लक्ष्मण के द्वारा धरती जीतते हुए सोहते है। गिरि, मत्त-मयूरो और नागो से सोहता है, प्रभु (राम) किन्नरो (स्तुति पाठको) की ध्वनि से सोहते है। गिरि वनगजो से सोहता है, प्रभु (राम) जलनिवारण (छत्र) से सोहते हैं। गिरि उछल कूद करते हुए बदरो से सोहता है प्रभु (राम) विद्याधरो की पताकाओ मे अकित वानरो से सोहते है। गिरि, नवीन वाण और आसन वृक्षो से सोहता है और प्रभु (राम) वाणो सहित योद्धाओ से सोहते है। वहाँ उन्होने पूर्वकोटि नामकी शिला देखी, जो नारायण और वलभद्रो द्वारा पूजनीय और वदनीय है। मत्रियो ने कहा हे धर्मराशि ? पहले इस शिला को त्रिविष्टप ने उठाया था, यदि इसे लक्ष्मण अपनी भुजाओ से उठा लेगे तो वह तीनखड धरती को जीतेगे। यह सुनकर राम ने कहा क्या तुम्हारे मन मे अभी भी भ्राति है जब तक वह रावण का निर्दलन करे, और विभीषण को राजलक्ष्मी दे तब तक तुम्हे सदेह बना रहेगा। शीघ्र ही वह सब के हृदयो का सदेह दूर करेगा। जो अतुलनीय से तुलना करता है और जो वलवान् शत्रु को भी नवा देता है, कुल को उज्वलकरनेवाला वह लक्ष्मण इस शिला को क्यो न उठाएगा ?

सीता का विलाप

सीता दहाड़कर रोने लगी कि हे मनोभिराम लक्ष्मण, तुमने राम को अकेला क्यों छोड़ दिया, मुझसे कहो तो ? तुम्हारे बिना

मेरे जीवन को क्या आसरा ? फिर पूजा करके लक्ष्मण का शरीर-दाह कर दिया गया। और राम ने शांत होकर हृदय मे धैर्य धारण किया। हाथो से सिर पीटते, हाहाकार करते और रोते हुए अन्तःपुर को सबोधित किया। और लक्ष्मण के पृथ्वीचंद नामक पुत्र का शीघ्र अभिषेक करके अपने कुल का राजा बनाया। किन्तु सात जनो के साथ, सीता के बलिष्ठ भुजावाले पुत्रो ने राजलक्ष्मी की इच्छा नही की। शीघ्र ही उनके चरणो मे नमन करके अजितंजय मिथिला नगरी को चला गया। साकेतनगरी के, भ्रमणशील चचलभौरो से श्यामल, सिद्धार्थ नाम के वन मे, श्रीराघव ने मद मोह का नाशकर, शिवगुप्त के पास तपश्चरण लिया। उस समय, राम के साथ, विवेकवान् सुग्रीव हनुमान और विभीषण ने भी निर्विण्ण होकर दीक्षा ली।

परतंत्र जीवन

परदेश का जाना, दूसरे के घर मे रहना, पराधीन जीना और दूसरे का दिया हुआ कौर (ग्रास) लेना भाड़ मे जाय। पर के उस राज से क्या जिसमे दूसरो की टेढी भौहो का भय बना रहता है। अपनी भुजाओ से अर्जित,वन मे हल जोतना अच्छा पर दूसरे का दिया राज अच्छा नही, मै गिरिकुहर को श्लाघनीय और उत्तम मानता हूँ, पर प्रभा से महार्घ दूसरे के सौधप्रासाद को अच्छा नही समझता, भले ही उसमे नरनारी क्रीड़ा कर रहे हो। बहुत समय के अनतर लौटकर, वणिक् वीरदत्त ने आकर देखा कि सेठ (वणिक्पति) सुमुख, मदविह्वल होकर, वनमाला मे आसक्त है। सताप से अत्यन्त क्षीण हृदय, वह, कुख्यात निर्बल और निर्धन हो चुका है। किसी बलिष्ठ के छेड़ने पर क्या करे यही सोचता हुआ वह मर जायगा। इस प्रकार दुष्ट की संगति से उसे

सीख मिली। और उसने पोट्टिल मुनि के समीप जाकर दीक्षा ले ली। वह सोचने लगा कि अब स्त्री और धन से क्या, अनशन द्वारा मन संयत करके जिस समय वह मरकर, सौधर्म स्वर्ग में चित्रांगद नामका यौवनसम्पन्न देव हुआ, उसी समय राजा मघवत्त का बेटा रघु भी श्रावक व्रत धारणकर, और मद का निग्रह कर, वहीं सूरप्रभु नामका देव हुआ।

कृष्ण का बचपन !

धूलधूसरित उत्तमवाण छोडनेवाले, क्रीडारस के वशीभूत गोपालक और गोपियों का हृदय हरणकरने वाले, कृष्ण ने कौतुक से खेलते खेलते, घूमती हुई मथानी पकड ली। और आवर्तित उस मथानी को तोड़कर अर्धविलोलित दही उलट दिया। कोई गोपी कृष्ण से चिपट गई और बोली कि इन्होंने मेरी मथानी तोड डाली है, इसके मोल मे यह मुझे आलिंगन दें या फिर, मेरे आँगन से न जॉय। किसी गोपी का सफेद वस्त्र हरि के शरीर की श्यामलता से काला हो गया, वह मूर्खा उसे पानी से धोती है, और इस प्रकार सखियो को अपनी मूर्खता दिखाती है। स्तनपान की इच्छा से भूखे, अपनी मा के सामने दौडते हुए, भैंस के बच्चे को हरि ने पकड लिया, और वह उनके हाथ के बंधन से निकल नहीं पाता। ग्वाला दुहने के हाथ को बार बार प्रेरित करता है और बार बार माधव को क्रीडारस से पूरित करता है। कहते हैं कि अंगना के घर मे आने को उत्सुक हाथी के बच्चे को बालक (कृष्ण) ने रोक लिया। यशोदा बडी कठिनता से कृष्ण से गुंजा की कन्दुकक्रीडा छुडा सकी। कहते है कि कृष्ण ने रखे हुए नवनीत के पिंड को वैसे ही खा लिया जैसे कंस के यश को।

कृष्ण के हाथ फैलाकर श्रुतिमधुर ध्वनि और नृत्य करने पर, गोपियो का मन घर मे नही लगता।

पोयणुनगर का वर्णन

जहा इन्द्रनील मणियो की रंगविरगी प्रभा आँखो के काजल की तरह प्रतीत होती है और पद्मरागमणि की विछलती हुई कांति ऐसी जान पड़ती है मानो कुंकुम का अवलेप हो। जहॉ भद्र महिलाओ की स्तनस्थली तथा रंगावली हारावलियो से एक सी शोभित है, अत्यन्त शुभ्रकपूर की धूलि और कुसुम मालाओ के पराग से, भौरे चंचल हो रहे है। रास्तो मे सामंत मत्री भट और अनुचर तथा अन्य नागरिक आ जा रहे है। जहॉ चन्द्रकांत मणियो के झरनो से शीतल और निर्मल जल बह रहा है। जहा सभी मनुष्य सुभगरूपवाले और लावण्ययुक्त तथा सुदर है। जहा क्षत्रिय अपने क्षात्र धर्म मे स्थित है और ब्राह्मण, अपने धर्म का आचरण करते है, वैश्य-प्रवर वैश्यवर्ण के अनुरूप है. जहां शूद्र भी शुद्धमार्ग का अनुसरण करते है, वहां राजा चारो वर्णों का स्वामी होकर रहता है उसका नाम अरविद है जो शत्रुसमूह के लिए साक्षात् यम है, परस्त्रियो के लिए अत्यन्त दुर्लभ, और लक्ष्मी का अधिपति है।

आत्मपरिचय

सिद्धिविलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के शरीर से उत्पन्न, गरीब अमीर को एक दृष्टि से देखनेवाले, सभी जीवो के अकारण मित्र, शब्द सलिल से अपने काव्य स्रोत को बढ़ाने वाले, केशव के पुत्र, काश्यपगोत्री, सरस्वतीविलासी, सूने घाटो और वीरान देवकुलों मे रहने वाले, कलि के प्रबल पाप-पटलो से

रहित, वेघरबार, पुत्र कलत्रहीन, वापियो और तालावो मे स्नान करने वाले, पुराने वस्त्र और वक्कल पहिननेवाले, धूलधूसरित अग, और दुर्जनो के सग से दूर रहनेवाले, धरती पर सोने वाले और अपने ही हाथो को ओढ़नेवाले, पडितमरण की प्रतिज्ञा रखने वाले, मान्यखेटवासी, अरहत की मन मे उपासना करनेवाले, भरतमत्री द्वारा सम्मानित, अपने काव्यप्रवध से लोगो को आनद मग्न करनेवाले और पापरूपी कीचड को धो डालनेवाले अभिमानमेरु पुष्पदत ने जिनभक्ति मे हाथ जोड़कर, क्रोधनसवत्सर की आषाढ सुदी दसवी को भक्तिपूर्वक यह काव्य वनाया।

भविसयत्तकहा

धनपाल

[१]

रात्रि का अत हुआ, और सवेरा प्रकट हुआ, मानो अन्वेषण करता हुआ सूर्य फिर आ पहुँचा। जिन भगवान का ध्यान कर धीर भविसयत्त फिर चला। रोमाचित शरीर होकर, वह वन मे भ्रमण करने लगा। वहाँ उसे शुभ शकुन होने लगे। दाई ओर श्यामा उडने लगी, वायी ओर मद-मद हवा वहने लगी। कौआ प्रियमिलन की सूचना देने के लिए वोलने लगा। वायी ओर लावा ने किलकिंचित् किया और दायी ओर मृग अपने अग दिखलाने लगे। भुजा के साथ, दायी आँख भी फडकने लगी मानो वह कह रही थी कि इसी रास्ते से जाओ। थोड़ी दूर पर, पुराना रास्ता दिखा, वैसे ही जैसे किसी भव्य पुरुष को जिन सिद्धान्तग्रथ। वह सज्जन विचार करने लगा कि विद्याधर और देवता तो भूमि का स्पर्श नही करते, यहाँ यक्ष राक्षस और किन्नरो का भी सचार नही है, अत इस रास्ते पर मनुष्य अवश्य

चलते होंगे, इसलिए इसी मार्ग से मैं भी चलूँ। जब वह उस रास्ते से चला तो एक गिरिगुफा मे प्रवेश करने लगा। वह धीर वीर व्यक्ति सोचने लगा—चाहे कोई इस शरीर को खा ही ले, मै इस गुफा मे प्रवेश करूँगा। मेरा काम पूरा हो गया, अब कार्य विस्तार की क्या आवश्यकता। साहसी मनुष्य दुस्तर दुर्लंघ्य, दूरतक पहुँचे हुए स्थानों मे चले जाते है, भला मृत्युभय का निरादरकरने वाले पुरुषों के पुरुषार्थ से क्या सिद्ध नही होता।

[२]

सुहृद स्वजन और मरने का भय छोड़कर, अभिमान तथा पौरुष का स्मरण कर, सात अक्षर वाले मत्र का जाप कर और चदप्रभ भगवान् का हृदय में स्मरण कर, वह तरुण व्यक्ति काजल की तरह घने अंधकार से पूर्ण उस गिरिगुहा मे उसी प्रकार घुसा जैसे काल (समय) से छिपा हुआ काल (मृत्यु) चलता है। अथवा जिस प्रकार जीव व्यामोहरूपी अंधकार के समूह-जाल मे प्रविष्ट होता है। पवनसंचार न होने से वह वहरा सा हो रहा था। किसी अचिन्त्य सुख के कारण वह चितातुर हो रहाथा और विषम साहस के कारण रोमाञ्चित। जब कुछ दूर और गया तो उसे अंधकारशून्य नगर दिखाई दिया। उसमें चार बड़े प्रासाद और चार गोपुर दीख पड़े। चार बड़े-बड़े दरवाजे थे। उस नगर मे रत्नो और मणियो की कान्ति छिटक रही थी। नगर के प्रत्येक घर में कमलों की प्रभा विकीर्ण थी। कुमार ने धन और कांचन से पूर्ण उस नगर को देखा। यद्यपि वह नगर धनसम्पन्न था, पर निर्जन होने से जलहीन, कमलो से लदे, सरोवर की तरह, सौन्दर्यहीन मौलूम होता था।

[३]

उस पुर मे प्रवेश करते हुए, उसे ऐसी कोई वस्तु नही दिखाई दी जो प्रिय न हो। वावड़ी और कुआ वहाँ वहुत ही सुन्दर और अनेक थे। मठ विहार और मंदिरो के कारण, वह नगर अत्यन्त रमणीय लगता था। पर उन मदिरो मे किसी व्यक्ति को पूजा करने के लिए उसने जाते नही देखा। वहाँ फूलो से मीठा परिमल झड़ रहा था पर कोई उसे सूँघनेवाला नहीं था। पके हुए धान्य और अन्न को नष्ट होने से बचाने के लिए, वहाँ कोई ऐसा न था जो काट कर उन्हें घर लाता। मड़राते हुए भौरो के गुजन से मुखरित कमलो से सरोवर भरे थे, पर उनको तोडने वाला कोई नही था। उसे यह देखकर विस्मय होता था कि वृक्षो के फल हाथ से तोडे जा सकते है। पर किसी कारण, कोई उन्हें तोडकर नहीं खाता। दूसरे के धन को देखकर न उसे क्षोभ ही होता था और न लोभ ही। वह मन ही मन सोच रहा था, अचरज की वात है कि यह नगर वडे विचित्र ढग से वना है, यहाँ के निवासी जन या तो व्याधि से मर गए या फिर म्लेच्छ और राक्षसो ने उन्हे नष्टकर डाला। यहाँ का राजकुल भी विचित्र ढंग से निर्मित हुआ है। पर यहाँ के राजा का पता ही नहीं। ना मालूम, किस कारण यह अवस्था हुई। वह कुमार, नसो मे धडकन लेकर विस्फारित नेत्रो से, पद-पद पर विस्मय करता हुआ, उस नगर मे भ्रमण कर रहा था, वृक्षो के पल्लव और दलो के कारण वह नगर अत्यत सुकुमार था।

[४]

वहाँ पर उसे अधखुले झरोखोवाले मंदिर दीख पड़े, उनकी छटा, कनखियों से देखनेवाली नववधुओं के कटाक्षों सी मालूम होती थी। गवाक्षों के कांचफलको से मदिरो के प्रच्छन्नभाग उसी प्रकार दीख पड़ते थे जिस प्रकार अपर्याप्त और झीने वस्त्र से आवृत, स्त्रियो के उरुप्रदेश। भीतर, विविध वस्तुओ के भाण्डो से भरे हुए बाजारो की शोभा नागिनी के फन पर स्थित चिह्न की सी थी। बाजारो का अधकारपूर्ण भाग—प्रकाशित था ठीक वैसे ही जैसे विवाह की इच्छा रखने वाले मनुष्यो के चित्त किसी कुमारी को देखने से। बाजारो मे लोगो की भीड़ योगियों के विवादो सी जान पडती थी। नगर मे भीड़ ऐसी मालूम होती थी जैसे वस्त्ररहित मिथुनों के सुरतारम्भ। उसने दरवाजो को गोपद मार्गों से रहित देखा। प्रासाद के भीतर वायु के द्वारा कंपित उज्वल ध्वजाएँ दीख पडती थी। जो महल पहले जनसंकुल होने से कोलाहलमय थे वे आज वैसे ही निःशब्द है जैसे सुरति के बाद मिथुन। जो पवित्र जलाशय, सदैव पनहारिनो से भरे रहते थे वे आज संयोगवश निःशब्द है। सम्पत्तिशाली स्थानो को देखकर उसके अगो मे उन्माद भर रहा था। अपनी देह की छाया को देखकर वह धीरे-धीरे चलता रहा। कुमार विचित्र ढग से घूम रहा था। उसका सारा अग विस्मित था। हा दैव ? यह सुदर और समृद्ध नगर जनशून्य किस लिए है ? यह बाजारमार्ग कुलशीलसम्पन्न वणिकपुत्रो के बिना शोभा नही पा रहा है। उसकी अवस्था इस समय वैसी ही हो रही है जैसे जुआ-

खेलनेवालो के विना जुआघर की, अथवा यौवनहीन वेश्या की। श्रेष्ठ घरो के आगन का विस्तार मनुष्यो के विना शोभाहीन है। पात्रो से युक्त भी रसोईघर शून्य होने से अच्छे नही लगते। उनकी अवस्था वैसी है जैसे सज्जनों के विना परदेश। हा! अधिक कहने से क्या फल? इसको देखकर, कौन दुखी नहीं होता? जो क्षयकाल से युक्त है उसे समृद्धि कैसे मिल सकती है।

मुनि रामसिंह

जो सुख, अपने अधीन हो उसीमें संतोष कर। हे मूर्ख, दूसरो के सुख की चिताकरनेवालो के हृदय का सोच, कभी नही जाता॥ १॥

जो सुख, विषयविमुख होकर अपनी आत्मा का ध्यान करने मे मिलता है, वह सुख, करोड़ो देवियो के साथ रमण करनेवाला इन्द्र भी नहीं पाता॥ २॥

सॉप, कॉचली तो छोड़ देता है परन्तु जो विष है उसे नही छोड़ता। इसी प्रकार (मनुष्य) मुनि का वेष तो धारण कर लेता है परन्तु भोगो के भाव का परिहार नही करता॥ ३॥

मै गोरा हूॅ, मैं सांवला हूॅ, मै विभिन्न वर्ण का हूॅ, मैं दुर्बल हूॅ, मै स्थूल हूॅ। हे जीव, ऐसा मत मान॥ ४॥

न तू गोरा है न सॉवला, न एक भी वर्ण का है। न तू क्षीण है और न स्थूल। अपने स्वरूप को ऐसा जान॥ ५॥

न मै श्रेष्ठ ब्राह्मण हूॅ। न वैश्य हूॅ। न क्षत्रिय हूॅ। न शूद्र हूॅ। न पुरुष नपुंसक और स्त्रीलिंग हूॅ। ऐसा विशेष जान॥ ६॥

हे जीव! देह का जरामरण देखकर भय मत खा। जो अजरामर परब्रह्म है उसे ही अपना मान ॥ ७ ॥

ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त और भाव पराया है। उसे छोड़कर, हे जीव, शुद्ध आत्मभाव का ध्यान कर ॥ ८ ॥

तूंने, न तो पॉच वैलों को रखाया और न नंदनवन मे प्रवेश किया। न अपने को जाना और न पर को। योंही परिव्राजक बन गया। [पॉच वैल = इन्द्रियॉ, नंदनवन = आत्मा] ॥ ९ ॥

मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से। दोनों समान हो रहे है पूजा किसे चढ़ाऊँ ॥ १० ॥

देव की आराधना करता है। परमेश्वर कहॉ चला गया? जो शिव सर्वांग मे व्याप्त है उसका विस्मरण कैसे हो गया ॥ ११ ॥

जो न जीर्ण होता है न मरता है और न उत्पन्न होता है। जो सबके परे कोई अनंत ज्ञानमय त्रिभुवन का स्वामी है, वही निर्भ्रान्त शिव है ॥ १२ ॥

जब भीतरी चित्त मैला है तब वाहर तप करने से क्या? चित्त मे उस विचित्र निरंजन को धारण कर, जिससे मैल से छुटकारा हो ॥ १३ ॥

हाथ से अधिष्ठित जो छोटा देवालय है, वहॉ वाल का भी प्रवेश नहीं हो सकता। सतनिरंजन वहीं बसता है। निर्मल होकर ढूंढ़ ॥ १४ ॥

बहुत पढ़ा, जिससे तालू सूख गया पर मूर्ख ही रहा। उस एक ही अक्षर को पढ़, जिससे शिवपुरी मे गमन हो ॥ १५ ॥

मै सगुण हूँ और प्रिय निर्गुण निर्लक्षण तथा निसंग है। एक ही अंगरूपी अंक मे वसने पर भी, अग से अग नहीं मिल पाया ॥ १६ ॥

षड्दर्शन के धंधे मे पडकर, मन की भ्रांति नही मिटी। एक देव के छ भेद किए इससे वे मोक्ष नही जाते ॥ १७ ॥

हे मूंड मुडाने वालो मे श्रेष्ठ मुंडी ? तूने सिर तो मुंडाया पर चित्त को नही मोडा। जिसने चित्त का मुंडन कर डाला उसने ससार का खंडन कर डाला ॥ १८ ॥

पुण्य से विभव होता है, विभव से मद, मद से मतिमोह और मतिमोह से नरक, ऐसा पुण्य मुझे नहीं चाहिए ॥ १९ ॥

किस की समाधि करूँ ? किसे पूजूँ, स्पृश्य अस्पृश्य कहकर किसे छोड दूं, भला किसके साथ कलह ठानू। जहाँ-जहाँ देखता हूँ, तहाँ-तहाँ अपनी ही तो आत्मा दिखाई देती है ॥ २० ॥

तूं तड-तड़ पत्तियाँ तोडता है, मानो ऊँट का प्रवेश हुआ हो, मोह के वशीभूत होकर, तू यह नहीं जानता कि कौन तोडता है और कौन टूटता है ॥ २१ ॥

हे जोगी ? पत्ती मत तोड़, और फलो पर भी हाथ मत चढ़ा। जिसके लिए तू इन्हे तोडता है, उसी शिव को तू यहाँ चढ़ा दे ॥ २२ ॥

देवालय मे पाषाण है, तीर्थ मे जल और सब पोथियों मे काव्य है, जो वस्तु फूलीफली दिखती है वह सब ईंधन हो जायगी ॥ २३ ॥

(तुम) अक्षरारूढ और स्याहीमिश्रित पुस्तकों को पढ़ते पढ़ते क्षीण हो गए, परन्तु यह परमकला न जानी कि जीव कहां उगा और कहां लीन हुआ ॥ २४ ॥

आगे पीछे, दशों दिशाओं में जहाँ मैं देखता हूं तहां वही है, अब मेरी भ्रांति मिट गई, अब अवश्य किसी से नहीं पूछना ॥ २५ ॥

वन में, देवालय में, तीर्थों में भ्रमण किया और आकाश में भी देखा। अहो, इस भ्रमण में भेड़ियों और पशु लोगों से भेंट हुई ॥ २६ ॥

शशि पोषण करता है रवि प्रज्वलित करता है पवन हिलोरें लेता है किंतु सात रज्जु अंधकार को लेकर काल कर्मों को खा जाता है ॥ २७ ॥

मुनि कनकामर

करकण्ड का अभियान

यह सुनकर चम्पा का राजा क्रुद्ध होकर (युद्ध के लिए) सन्नद्ध हो गया। इसी बीच में दतीपुर का राजा मंदराचल सहित धरती को कम्पित करने लगा। शत्रुओं के जीवन को नष्ट करने वाले उसके प्रस्थान से दशों दिशाओं में धूल उठने लगी। आकाश धूल से भर गया और सूर्य भी अपने व्रत से स्खलित हो गया। उसने क्रोध में आकर शीघ्र प्रयाण का आदेश दिया।

गंगा का दृश्य

गंगाप्रदेश में पहुंचने पर, जाते हुए उसे गंगा नदी दिखाई दी। टेढ़ी, मेढ़ी वह स्वच्छजल से, बहुत सुंदर लगती है

मानो शेषनाग की पत्नी जा रही हो। दूर से बहती हुई, वह बहुत भली लगती है, मानो गिरिराज हिमालय की कीर्ति हो। दोनों किनारो पर लोग स्नान कर रहे है, दर्भ लिए हुए, अपने हाथ उठाकर सूर्यदेव को जल चढा रहे है, मानो इन सबके व्याज से गगा जी कहना चाहती है,—मै तो अपने शुद्ध रास्ते जा रही हूॅ, हे स्वामी आप हमारे ऊपर रुष्ट न हो।" नदी का निरीक्षण कर, करकड नाम का वह राजा, अपने पिता के नगर मे गया, वह नगर गुणो का तो आश्रय ही था। उसने युद्ध मे धनुर्धरो द्वारा मुक्त वाणो से विद्याधर और देवो को भय उत्पन्न कर दिया और दुद्धर हाथियो घोड़ो और राजो के द्वारा नगर को चारो ओर से घेर लिया।

आक्रमण का प्रतिरोध

तव चम्पा नरेश उठा और युद्ध मे देवो को भी भय उत्पन्न करने वाले उसके अनुचर दौड़े। वायु के समान वेगशील घोडे तथा हाथी सजा दिए गए। चको से चिक्कार करते हुए वडे २ रथ चलने लगे। और कोई कोई हक्कार डक्कार और हुकार करते हुए, भाले लेकर दौड़े। कोई कोई स्वामी के सम्मान को वहुत मान कर और राजा के पादपद्मो मे अतिशय भक्ति से, हाथ मे धनुप लेकर दौड पडे, वे रणदुद्धर थे और उनके हृदय मे उत्साह था। कोई क्रोध से कॉपते हुए और कोई तलवार चमकाते हुए। कोई रोमाचित होकर, और कवच वाध कर, कोई युद्धभूमि के रस मे मग्न होकर और कोई स्वर्गवासियो की निश्चल सम्पत्ति से युक्त होकर, दौड पड़े। चम्पा का राजा वाहर निकला। वह उत्तम हाथी और घोडो से सज्जित था। कहो, उसकी प्रचंड

भयंकर और बलिष्ठ भुजाओं से किसने उसका अनुसरण नहीं किया।

युद्ध वर्णन

आहत तूरों से (सूडों से) धरती भर गई। युद्ध के बाजे बजने लगे, और सेना तैयार होने लगी, आदेश मिलने पर, सेना एक कतार बांधकर, शत्रु-समूह पर टूट पड़ी। भाले टूटने लगे और हाथी गरजने लगे। वे वेग से दौड़े और हाथियों की खीसों से जा लगे। शरीर टूटने लगे। सिर फूटने लगे, रुंड दौड़कर शत्रु-स्थान में पहुंचने लगे। आँतों को शस्त्र भेदने लगे। रक्त की धारा-बहने लगी, हड्डियाँ मुड़ने लगीं, गर्दनें टूटने लगीं। जो कायर हैं वे भाग खड़े हुए, कोई भिड़ रहे हैं और कोई कोई तलवार खींचकर खड़े हैं। और कितनों ही ने तलवार ऊपर उठा ली है।

आचार्य हेमचंद

गंगा और यमुना (इडा और पिंगला) के आभ्यन्तर को जब हंसरूपी आत्मा छोड़ देती है और सरस्वती (सुषुम्ना) में स्नान करती है, तब वह आत्मा किसी भी ऊंचे स्थान पर पहुँच कर, रमण करने लगती है, यही अनाख्येयस्थान मोक्ष है ॥१॥

मूर्खो ? विषयों के पराधीन होकर अथवा बंधु और मित्रजनों के मोह में पड़कर बैठ रहना ठीक नहीं। दोनों, शशि और सूर्य (इडा और पिंगला) में मन का निवेश करो। बंधु और मित्रों के बिना रहो। [अपने मन को शुभ भावों में लगाओ] ॥२॥

मनुष्य यदि हिमालय पर चढ़कर गिरे और या एकमन

होकर प्रयागतरु से गिरे, तो भी निष्कपट शुद्धाचार और चित्त-शुद्धि के विना, वह मोक्ष नहीं पा सकता ॥३॥

अदृष्ट तन्त्री (नाडीजाल) मे शरीर रूपी वीणा बज रही है। उर कँठादि स्थानो को ताड़ित करता हुआ शब्द उठ रहा है, इस लिए जहाँ विश्राम प्राप्त हो उसी का ध्यान करो, मुक्ति के अन्य कारण निष्फल है ॥४॥

जो सत्यवचन बोलता है और जो उपशम भाव को धारण करता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है ॥५॥

यमुना गगा सरस्वती और नर्मदा प्रभृति नदियो मे जा जाकर अज्ञानी लोग, पशु की तरह जल मे डुबकी लगाते है। क्या जल मोक्षसुख देने वाला है ? ॥६॥

पुरानी हिन्दी

प्रवन्ध चिन्तामणि

राजा विक्रमादित्य ने रात मे नगर का निरीक्षण करते हुए दोहे का प्रथमार्ध किसी तेली के मुख से सुना, दूसरे दिन दरबार मे बुलाये जाने पर, उसने उत्तरार्ध सुनाया। वलिवधन पद मे श्लेष है, बलि का अर्थ राजा और कर है—

हे नारद, कृष्ण से हमारा सदेश कहा जाय कि जग दरिद्रता मे डूब रहा है, बलिवंधन (कर का बोझ) छोड़ दो ॥१॥

कच्छ के राजा लापाक को मूलराज ने कपिलकोटि के किले मे घेर लिया, लापाक रणभूमि मे उसे ललकार रहा है—

लाषाक निर्संकोच होकर कह रहा है कि यदि उदीयमान पराक्रमी वीर ने शत्रुओ को संतप्त नही किया, तो क्या ? दिन तो, गिने हुए मिलते है, दश या आठ ।।२।।

मालव नरेश मुज किसी स्त्री मे आसक्त था, वह रात ही रात ऊट पर चढ़कर बारह योजन जाता था, कुछ दिन बाद, मुज ने जाना छोड़ दिया, इस पर उस खडिता ने यह दोहा लिखकर भेजा—

हे मूर्ख मुज देखते नहीं हो कि डोरी सूख गई है, आषाढ़ मे घन गरजने पर द्वार पर फिसलन हो जायगी ।।३।।

तैलिंग देश के राजा तैलप पर मुंज ने आक्रमण किया, पर गोदावरी के उस पार वह बंदी बना लिया गया। बाद मे उसका तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया एक दिन मुज दर्पण मे अपना मुह देख रहा था, पीछे मृणालवती खड़ी थी। मुज का यौवन और अपनी अधेड़ अवस्था देखकर वह चिंता करने लगी, इस पर मुंज ने उसे ढाँढस दिया—

मुज कहता है, हे मृणालवती ! गत यौवन की चिता मत कर। शक्कर के सौ खड भी हो जाय तब भी वह मीठी रहती है ? ।।४।।

स्त्रियां सौ चित्त, साठ मन और बत्तीस हृदयो की होती है, जो मनुष्य उनका विश्वास करते है वे दग्ध होते है ।।५।।

मुंज का आत्मकथन—

आग मे जलकर, या खण्ड-खण्ड होकर क्यो नहीं मर गया। राख का ढेर क्यो नही हुआ ? डोरी से बधा हुआ मुज वैसे ही घूम रहा है जैसे बंदर ? ।।६।।

गज चले गए, रथ चले गए, घोड़े चले गए। और पैदल अनुचर भी चले गए। हे स्वर्गस्थित रुद्रादित्य मुझे भी शीघ्र बुला लो ? ॥७॥

बंदी मुंज को हाथ मे दोना लिए भीख मागते देखकर किसी गर्विता ने उसे छाछ पिला दी और भीख नही दी, इस पर मुंज की यह उक्ति है—

हे भोली मुग्धे हाथ मे दोना देखकर गर्व न करो ? मुज के चौदह सो छहत्तर हाथी चले गए ॥८॥

मुंज मृणालवती से कहता है कि जो मति बाद मे होती है यदि वह पहले हो जाय तो कोई भी विघ्न न घेरे। ॥९॥

समुद्र जिसकी परिखा थी और लका गढ थी, ऐसा रावण भी, भाग्य के क्षय होने पर भग्न हो गया, इसलिए हे मुज विषाद मत करो ? ॥१०॥

भोज के दरबार मे उपस्थित हुए, एक सरस्वतीकुटुम्ब की सूचना, द्वारपाल राजा को दे रहा है—

पिता विद्वान् है, बेटा विद्वान् है, माता और बेटी भी विदुषी है। बेचारी कानी दासी भी विदुषी है, हे राजन् वह परिवार विज्ञपुज जान पडता है। ॥११॥

जिस समय दश मुख और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ तो माता अचरज मे सोचने लगी कि दूध किस मुह से पिलाऊ ? ॥१२॥

किन्ही विरह-करालिताओ ने बेचारे कौए को उडा दिया, हे

सखि ! मैने यह आश्चर्य देखा कि वह कष्ट मे मारा मारा फिरता है ॥१३॥

रात मे निरीक्षण करते हुए भोज ने एक दिगम्बर के मुह से यह दोहा सुना, दूसरे दिन, राजा ने उसे बुलाकर सेनापति बना दिया । पीछे उसने अनहिलपट्टन जीतकर, जयपत्र प्राप्त किया—

यह जन्म व्यर्थ गया । मैने योद्धा के सिर पर खड्ग भग्न नहीं की, तेज घोड़े पर नही चढ़ा और न गोरी के गले लगा ॥१४॥

मार्ग नवीन जल से भरे है आकाश मे मेघ गरज रहे है यदि इस बीच मे आयगा तो स्नेह जाना जायगा । ॥१५॥

भोज ने राजसभा मे गुजरातियो के भोलेपन की हंसी की । यह जानकर गुजरात के राजा भीम ने एक गोपाल भोज के पास भेजा । गोपने उसे यह दोहा सुनाकर सरस्वतीकठाभरण की उपाधि प्राप्त की ।

हे भोज ! कहो, गले मे यह कठा कैसा प्रतीत होता है । उर में लक्ष्मी और मुँह मे सरस्वती की क्या सीमा बाँध दी गई है ? ॥१६॥

भोज ने रात मे निरीक्षण करते हुए एक दरिद्रा से यह दोहा सुना—

मनुष्य की दश दशाएँ लोक मे प्रसिद्ध सुनी जाती है, परंतु मेरे पति की एक ही दशा है और तो वे चोरो ने ले ली ॥ १७ ॥

मरते समय भोज ने कहा था कि शवयात्रा के समय मेरे हाथ बाहर रक्खे जॉय, इस पर एक वेश्या की उक्ति है—

अरे, पुत्र स्त्री और कन्या किसके है ? और खेती-बाडी भी किसकी ? अकेला ही आना है, और हाथ पैर दोनो झाडकर अकेला ही जाना है ॥ १८ ॥

समुद्रतट पर टहलते हुए सिद्धराज से उसके चारण ने यह कहा—

हे नाथ ? आपको कौन जानता है, आपका चित्त चक्रवर्ती है, हे कर्णपुत्र ? जो शीघ्र लंका को लेने के लिए, मार्ग देख रहा है ॥ १९ ॥

नवघन के मारे जाने पर, उसकी पत्नी का यह कथन है ?

वह राणा अब स्वच्छंद नही है, वह पृथ्वी पर न तो कभी पड़ा रहा है और न गड़ा रहेगा, खगार के साथ अब मै अपने प्राणो को आग मे क्यो न होम दूँ ॥ २० ॥

सब राजे तो बनिया है, किंतु सिद्धराज जयसिंह बहुत बड़ा सेठ है, उसने हमारे गढ़ के नीचे क्या वाणिज्य फैलाया है ॥ २१ ॥

नवघन खगार के मारे जाने पर यह उक्ति कही गई है—

हे गुरु गिरनार तुमने मन मे कौन सा मत्सर धारण किया, खगार के मारे जाने पर तुमने एक शिखर भी (शत्रुओ पर) नहीं गिराई ॥ २२ ॥

जयसिंह वीर होकर भी लम्पट था, नवघन के मारे जाने पर वह उसकी स्त्री की ओर हाथ बढाने लगा, नवघन की पत्नी उसे फटकार रही है—

हे जयसिंह, बॉह मत मोडो ? ठहरो ठहरो, यह विरूप होगा,

नदी की तरह नवघन के बिना मुझमे नया प्रवाह नहीं आ सकता ॥ २३ ॥

हे वर्धमान (नगर का नाम) तुम्हारी बढ़ती भुलाए भी नही भूलती । हे भोगावह (नदी) तुझसे अब शून्यप्राण भोगा जायगा । [क्योंकि अब नवघन नही है] ॥ २४ ॥

आ० हेमचद की माता के उत्तरकर्म के अवसर पर उसके विरोधियो ने उसका विमान भग कर दिया इस पर वह सोचते है—

या तो स्वय समर्थ हो या फिर किसी समर्थ को हाथ में ले । कार्य करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को दुनिया मे तीसरा रास्ता नही ॥ २५ ॥

सुहागिने सखी की पहनी हुई चोली को तान रही है ठीक ही है कि तरुणीजन जिसके गुण को पीठ पीछे ग्रहण करती है । [यहाँ गुण का अर्थ है डोरी और गुण] ॥ २६ ॥

दो चारण दूहाविद्या मे होड़ लगाकर अणहिलपट्टन मे आए, एक ने हेमचद के सामने यह दोहा पढ़ा—

मेरी लक्ष्मी और सरस्वती दोनो खोटी है । वे भाग गई है और मै मरता हूँ । हेमचद की सभा मे जो समर्थ है, वे ही पडित है ॥ २७ ॥

कुमारपाल के आरती के समय प्रणाम करने पर हेमचद, ने उनकी पीठ पर हाथ रखा, यह देखकर दूसरा चारण बोला—

हे हेमचंद मै तुम्हारे हाथो से मरूँ जिससे मुझे खूब समृद्धि मिले । क्योंकि नीचे मुँह किए हुए जिसको तुम चाँप देते हो

उसको भी ऊपर की सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २८ ॥

हे स्वामी ? एक फूल के लिए भी आप सिद्धि का सुख देते है, आपके साथ किसकी समानता, हे जिनवर आपका कितना भोलापन है ॥ २६ ॥

कुमारपाल का उत्तराधिकारी अजयपाल बहुत अत्याचारी था, उसने जैन विद्वानो और प्रमुखो को गिन-गिनकर मरवा डाला। सौ ग्रथो के बनानेवाले पंडित रामचंद्र को उसने गर्म तांबे पर चढ़ा दिया, बेचारा यह दोहा पढ़कर दाँतो से जीभ काटकर मर गया—

सचराचर महीपीठ के सिरपर जिस सूर्य ने अपने पाद (किरण) डाले उस दिनेश्वर का भी अस्त हो जाता है। होनहार होकर ही रहती है। [पाद शब्द मे श्लेष है] ॥ ३१ ॥

न मारिए न चुराइए परस्त्री गमन का वारण कीजिए। थोड़ा भी थोड़ा दान कीजिए। इस प्रकार शीघ्र स्वर्ग जाइए ॥ ३२ ॥

पहला भाग

मान नष्ट होने पर यदि शरीर न छूटे तो देश छोड दीजिए। पर दुर्जनो के करपल्लवों से दिखाए जाते हुए मत घूमिए ॥ १ ॥

एक मनुष्य मिमियाते हुए बकरे को यज्ञ के लिए ले जा रहा था, एक साधु ने उससे जब यह कहा तब वह चुप हुआ—

हे बकरे तुमने खुद ताल खुदाए (पूर्व जन्म में) और वृक्ष भी लगावए और तुमने स्वयं यज्ञ का प्रवर्तन किया, अब मूर्ख ? क्यो बिबियाता है ॥ २ ॥

किसी नगर मे अशुभ की शांति के लिए पशु वध होते देखकर देवता ने कहा—

कमल मे कलहसी की तरह जिसके हृदय मे जीवदया बसती है, उसके पदप्रक्षालन के जल से अशिव की निवृत्ति होगी ॥ ३ ॥

एक विवाह की वधाई का वर्णन—

घनकुंकुम की धूलि से भरे गृहद्वार पर, फिसलते हुए पैरो से स्त्रियॉ नाच रही है। आभरणो की आभा से उनकी देह दीप्त है और वे सुरवधुओ की रूपरेखा को भी तिरस्कृत कर देनेवाली है ॥ ४ ॥

स्त्रियो को तीन चीजे प्यारी लगती है—कलह काजल और सिदूर । अन्य तीन भी प्यारी होती है—दूध जवॉई और बाजा ॥ ५ ॥

एक राजा अपनी रानी से गद्दी का भविष्य कह रहा है—

जो राजा मेरी आन का उलंघन करेगा, जो करीन्द्र को वश मे करेगा और जो कुमारी कनकवती का हरण करेगा वह यहाँ राजा होगा ॥ ६ ॥

वसंत का वर्णन—

कोयलकुल के शब्द से मुखरित, यह वसंत जग मे प्रविष्ट हुआ। मानो कामदेव महानृप के विजय-अहकार को प्रकट करनेवाला योद्धा ही हो ॥ ७ ॥

सुंदर किरणोवाले सूर्य को उत्तर दिशा मे आते देखकर मलयसमीर, दक्षिणदिशा के निश्वास की तरह बहने लगा । [इसमे श्लेप से सापत्न्य भाव व्यंजित है, सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण होता है] ॥८॥

अरुण नव कोपलो से परिणद्ध काननश्री ऐसी सोहती है मानो

वह, रक्तागुरु लपेटे हुए, वसन्त रूपी प्रियतम से आबद्ध हो ॥९॥

भ्रमर समूह से मलिन, सहकार की मञ्जरी ऐसी जान पड़ती है, मानो मदनानल की ज्वाला से धूआं उठ रहा हो ॥१०॥

राजा नल दमयन्ती के वस्त्र पर उसे त्यागते समय रक्त से यह लिख गया था—

वट वृक्ष की दाहिनी दिशा से विदर्भ को रास्ता जाता है और बाईं दिशा से कोसल को। अतः रुचे वहां जाओ ॥११॥

नल एक ही निष्ठुर, निष्कृप और कापुरुष है इसमें भ्रांति नहीं क्योंकि जिसने रात में सोती हुई, महासती दमयन्ती को अकेला वन में छोड़ दिया ॥१२॥

राजगृह के राजा श्रेणिक के पुत्र अभय को प्रद्योत ने अपने यहां छल से पकड़ कर कैद कर लिया। अभय के प्रशसनीय काम करने पर राजा ने उससे वर मांगने को कहा—उसने एक ऊटपटांग वर मांगा—जिसका अभिप्राय था कि मुझे छोड़ दो—

नलगिरि हाथी पर शिवादेवी (रानी) की गोद में बैठे मुझे अग्निभीरु (Fire Proof) रथ की लकड़ियों की आग मेरे अंग में दो ॥१३॥

जाते समय अभय बदला लेने की यह प्रतिज्ञा कर गया—

सूर्य को दीपक बनाकर (दिन दहाड़े) नगर के बीच में, हे स्वामी यदि चिल्लाते हुए तुम्हें न हरूं तो मैं आग में प्रवेश करूं ॥१४॥

वेशविशिष्टों का वारण कीजिए, भले ही वे मनोहरगात्र हों। गंगाजल से प्रक्षालित कुतिया क्या पवित्र हो जाती है ॥१५॥

नयनों से रोते हैं और मन में हसते हैं वेशविशिष्ट वही करते हैं जो करपत्र काठ को करता है ॥१६॥

हे प्रिय ! तुम्हारी वियोगाग्नि मे सारे दिन किलकती हुई मैं थक गई, जैसे थोड़े पानी मे छटपटाती हुई मछली ॥१७॥

मैंने समझा कि प्रिय विरहिणियो को रात मे कुछ सहारा होगा, पर यह चद्रमा वैसे ही तप रहा है जैसे च्चयकाल मे दिनकर ॥१८॥

आज सवेरा है, आज दिन है, और आज ही सुवायु प्रवृत्त हुई है, आज ही सब दुखो को गलहस्त दिया गया, जो कि तुम आज मुझे प्राप्त हुए ॥१९॥

दया देव और गुरु को अगीकार कर, सुपात्र को दान देकर तथा दीनजन का उद्धार कर अपने को सफल करो ॥ २० ॥

पुत्र, जो, जनक के मनको रंजित करता है, स्त्री, जो पति की आराधना करती है और भृत्य जो स्वामी को प्रसन्न रखता है, भलाई की यही समा है ॥ २१ ॥

मरकतमणि के वर्णवाले प्रिय के वक्षस्थल मे चम्पकवर्ण की प्रिया वैसी ही सोहती है जैसी कसोटी पर दी गई सुवर्ण की रेखा ॥ २२ ॥

मुग्धा के कपोल पर, श्वासो की आग से सतप्त और बाष्पसलिल से युक्त होकर चूडियॉ चूर्णविचूर्ण हो जायगी, [गर्मी सर्दी से कॉच का तडकना स्वभाविक है] ॥ २३ ॥

निश्चय ही मै तुम पर तुष्ट हूँ । आज मनोवाछित मॉग लो, [कृष्ण ने कहा ।] तब ग्वाल ने कहा—प्रभु मुझे राज वितरण करो ॥ २४ ॥

कोहल नाम के कवाडी, को देखकर एक रानी को अपने पूर्वजन्म की याद आ गई, उस जन्म मे वह इसी कवाड़ी की पत्नी थी, और देव पूजा करके इस भव मे रानी हो गई, पर

कवाड़ी, कवाड़ी ही रहा। वह कहती है—

अटवी में पत्ती और नदी में जल था, तो भी तुम्हारा हाथ नहीं हिला [पत्ती और जल से देवता की पूजा नहीं की] अरे! उस कवाड़ी के आज भी विशीर्ण वस्त्र है ॥ २५ ॥

जो परस्त्री से विमुख हैं वे नरसिंह कहे जाते हैं और जो परस्त्रियों से रमण करते हैं उनसे लीक [कुल की] पोंछ दी जाती है ॥ २६ ॥

एक वहू पशु पक्षियों की भाषा जानती थी। रात को शृगाल को यह कहते सुनकर कि शव दे दे और गहने ले ले, वह वैसा करने गई, लौटते हुए ससुर ने देख लिया और कुलटा समझकर वह उसे उसके पीहर ले चला, मार्ग में वृक्ष के नीचे एक कौआ बोला—इस पेड के नीचे १० लाख की निधि है उसे निकाल ले और मुझे दही सत्तू खिला। इस पर वह कहती है—

मैंने एक दुर्नय किया, उससे तो घर से निकाली गई, यदि दूसरा दुर्नय करूं तो प्रिय से भी न मिल सकूँगी ॥ २७ ॥

हम थोड़े हैं और शत्रु बहुत हैं यह कायर ही सोचते हैं। हे मुग्धे! देखो, गगनतल को कितने जन प्रकाशित करते हैं ॥ २८ ॥

वही विचक्षण कहा जाता है और वही चतुर शोभता है जो उन्मार्ग में जानेवाले को पथ में लगाता है और जो स्नेही चित्त का है ॥ २९ ॥

ऋद्धिविहीन मनुष्यों का कोई भी सम्मान नहीं करता। पक्षियों द्वारा मुक्त, फल रहित श्रेष्ठ वृक्ष, इसका प्रमाण है ॥ ३० ॥

यद्यपि मनुष्य सूर सुंदर और विचक्षण भी हो, तो भी लक्ष्मी प्रतिक्षण सेवा नहीं करती। कहते हैं स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों के गुण अवगुणों की चिंता से विमुख रहती है ॥ ३१ ॥

जो कुलक्रम का उलंघन करता है उसका अपयश फैलता

है । गुरुऋद्धि को लानेवाले भी, उसे, कोई पंडित नही बनाता ॥ ३२ ॥

मूर्ख मनुष्यो का मन जो दुर्लभ वस्तु की इच्छा करता है सो क्या वह शशिमंडल को ग्रहण करने के लिए आकाश मे हाथ पसारता है ? ॥ ३३ ॥

देवी राजकन्या का भविष्य कह रही है—

जो सिह का दमन करके उसपर सवारी करेगा अकेला ही शत्रु को जीतेगा। उसे कुमारी प्रियकरी देकर, सारा राज अर्पित कर दो ॥ ३४ ॥

सोमप्रभ और सिद्धपाल की रचित कविता

परस्त्रीगमन की निंदा—

[जिसने] कुल कलकित किया, माहात्म्य मलिन किया, सज्जनो का मुँह काला किया, निजगुणसमूह को हाथ देकर अलग किया अपयश से जग को ढक दिया, व्यसनो को अपना बनाया भद्र का दूर से वारण किया स्वर्ग को भी ढक दिया, उभय लोक मे दुख देनेवाली ऐसी परदारा की कामना मत करो ॥ १ ॥

पिता, माता, भाई, सुकलत्र, पुत्र, प्रभु, परिजन और स्नेहयुक्त मित्र कोई भी जीव के मरण को रोकने मे समर्थ नही, धर्म के बिना किसी दूसरे की शरण नही। यहाँ राजा भी रक, स्वजन भी शत्रु, पिता भी पुत्र और माता भी स्त्री, होती है, संसार के रंगमच पर नट की तरह वहुरूप यह जतु कुकर्मवान होता है। अकेला ही जन्मता है अकेला ही मरता है और अकेला ही कर्म भोगता है। अकेला परभव मे दुख सहता है, अकेला ही धर्म से मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २ ॥

वसन्त वर्णन

जहाँ रक्त पुष्पित पलाश ऐसे सोहते हैं मानो पथिकों के हृदय का भाग फट पड़ा हो, सहकारों की मंजरियाँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो मदनानल की ज्वालावली हो ॥ ३ ॥

जहाँ सूर्य, दुष्ट नरेन्द्र की तरह, अपनी तप्त किरणों से समस्त विश्व को पीड़ा पहुंचाता है और शरीर में लगकर (किरणों द्वारा) वैसे ही संतप्त करता है जैसे कोई दुष्ट महिला-जन को ॥ ४ ॥

तिलोत्तमा के रूप से व्याप्त होकर ब्रह्मा क्षणभर में चतुर्मुख हो गए और शंकर, गौरी को अर्धांग से धारण करते हैं, काम के वशीभूत होकर, इन्द्र प्रिया के चरणों को प्रणाम करता है और गोष्ठ में केशव, गोपियों द्वारा नचाए गए, कवियों द्वारा इन्द्रियवर्ग का ऐसा स्फुरण वर्णित किया जाता है ॥ ५ ॥

बालकपन में अशुचि से देह लिप्त रहती है, दुखकर दांतों का निकलना और कर्णवेध, यह सोचते हुए, सर्वविवेक रहित मेरा हृदय, उत्कम्पसहित हो उठता है ॥ ६ ॥

ईर्ष्या, विषाद, भय, मोह, माया भय, क्रोध, लोभ, काम और प्रमाद, ये, स्वर्ग जाने पर भी, मेरे पीछे, वैसे ही लग जाते हैं जैसे सब लेनदार, कर्जदार के पीछे ॥ ७ ॥

जिसके मुख से पराजित होकर, मानो चन्द्रमा शंकित होकर अपने आपको रात मे दिखाता है और जिसकी नयनकांति से विजित होकर हिरण ने लज्जा के भार से वनवास ले लिया ॥ ८ ॥

"नंद कहता है—यह वररुचि कवि कैसा ? जो परकाव्य पढ़ता है। मंत्री कहता है—ये सातों, लड़कियाँ होते हुए भी इन काव्यों

को पढ़ती हैं. हे नरनाथ ! इस विषय में यदि आपके मन मे संदेह हो तो आप कौतुक से उन्हें पढ़ती हुई सुने।"

[वररुचि जो भी काव्य पढ़ता, ल-कियाँ बारी-बारी से उसे सुना देती। उनमे पहली एक बार सुनकर कठस्थ कर लेती थी, दूसरी दो बार सुनकर और तीसरी तीन बार सुनकर। नद ने क्रुद्ध होकर वररुचि को निकाल दिया] ॥ ६ ॥

सायकाल पानी मे दीनार डालकर, प्रातः काल वररुचि गगा की स्तुति करता है। वह यत्र-सचार को पैर से दबाता है, वे दीनारे भी, उस आघात से उछल कर वररुचि के हाथ पर चढ़ जाती है, लोग कहते है कि गगा प्रसन्न होकर, वररुचि को देती है। नद यह वृत्तात जानकर, शकटाल से कहता है ॥१०॥

कोसा श्रमण संवाद—

कोसा नाम की वेश्या ने सोचा यह साधु मेरे प्रेम से पगा है, इसे सुमार्ग पर लगाना चाहिए—उसने कहा—मुझे दम्म लाभ चाहिए—धर्मलाभ नही, साधु ने पूछा कितना—कोसा ने 'लाख' मागा—

उसके द्वारा (कोसा के द्वारा) वह साधु सखेद कहा गया कि तुम जरा भी खिन्न मत होओ। शीघ्र नेपालमडल मे जाओ, वहा का श्रावकराजा, साधु को लाख मूल्य का कम्बल देता है। वह साधु वहा गया और राजा से भेट की। राजा ने उसे कम्बल दिया, वह इसे दंडतल मे छिपा कर वेग से लौटा ॥११॥

उसके बाद (चोरो से) मुक्त होकर वह गया और कोसा के हाथ में कम्बल दे दिया. उसने उसके देखते-देखते उस कबल को अप्रशस्त गड्ढे मे फेक दिया ॥१२॥

श्रमण खिन्न होकर बोला—हे कोसे तुमने बहुमूल्य इस

कम्बलरत्न को गड्ढे मे क्यो फेंक दिया। मैंने देशातर में भ्रमण कर, बडे दुख से इसे प्राप्त किया था। कोसा कहती है—हे महापुरुष ? तुम कम्बल का तो सोच करते हो, पर यह नहीं विचारते कि तुम दुर्लभ संयम रत्न को खो रहे हो ॥१३॥

पार्श्वनाथ की स्तुति—

गगनमार्ग मे जिसकी लोलतरंगपरम्परा संलग्न है, और जो निष्कृप और उत्कट नक्र चक्रो के सक्रमण से दुखकर हैं उछलते हुए, दीर्घ पूछवाले मच्छो की पांत से जो भरा हुआ है। विलसित ज्वालाओ से जटिल वडवानल से जो दुस्तर है, ऐसे सौ सौ आवर्तों से आकुल जलधि (ससाररूपी) को वे लोग गोपद की तरह, शीघ्र तर जाते हैं जो अशेष व्यसनसमूह को नष्ट करने वाले श्री पार्श्वनाथ का सस्मरण करते हैं ॥१४॥

आचार्य हेमचंद

गिरि से पानी पीजिए और वृक्षो से गिरे हुए फल खाइए गिरि व तरुओ के नीचे पडे रहिए, तब भी विषयो से विराग नही होता ॥१॥

जो जहा से है वह वहा से है, शत्रु और मित्र चाहे जो आवे, वे जिस किसी भी मार्ग मे लीन हो, मैं दोनो को एक दृष्टि से जोहता हूँ ॥२॥

कोई जन चाहे हमारी निंदा करे, और चाहे प्रशसा। हम किसी की निंदा नही करते और न किसी की प्रशसा (वर्णन) करते ॥३॥

हे मन आलस्य क्यो करते हो ? विषयो से दूर रहो, इंद्रियो रुधी हुई रहो। मै भूरि शिवफल काढ़ता हूँ ? ॥४॥

सयम में लीन रहने वाले उसे मोक्षसुख अवश्य मिलेगा, जिस पर, हे प्रिय बलि जाती हूँ—यह कहती हुई स्त्रियां प्रभाव नही जमा पाती ॥५॥

हे मूर्ख, भवगहन मे क्यो भ्रमा जाता है, मोक्ष कहां से होता है। यदि मन मे यह जानने की इच्छा हो, तो जिनआगम देख ॥६॥

नियम रहित, जो रात मे भी, कसर कसर कर खाते हैं, वे हहरकर, पापसमुद्र मे पड़ते है, और लाखो भवो मे भ्रमण करते हैं ॥७॥

स्वर्ग के लिए, जीव दया कर, मोक्ष के लिए, दम कर। अन्य कर्मारम्भ तुम किसके लिए करते हो ॥८॥

कायरूपीकुटीर अस्थिर है, यह जीवन भी चल है, इन भवदोषो को जानकर अशुभ भावो का त्याग कर ॥९॥

वे कान धन्य है, वे ही हृदय कृतार्थ है, जो क्षण क्षण मे नवीन श्रुतार्थों को घोट घोट कर धारण करते है ॥१०॥

जिनागम की एक भी बात जिसके कान में प्रवेश कर गई, उसको 'हमारा तुम्हारा' यह ममत्व नही रहता ॥११॥

दूसरा भाग

वर सांवला है, और धन्या चम्पक वर्ण की। मानो सुवर्ण-रेखा कसौटी पर दी गई हो ॥१॥

हे प्रिय, मैंने तुम्हें मना किया कि अधिक मान मत करो। रात नींद मे ही चली जायगी, और शीघ्र सवेरा हो जायगा ॥२॥

हे बेटी! मैंने तुमसे कहा कि टेढ़ी दृष्टि मत कर। हे

पुत्री, वह अनीसहित भल्ली की तरह, हृदय मे प्रविष्ट होकर मारती है ॥३॥

ये ही वे घोडे हैं, यही वह स्थली है, ये ही, वे पैने खड्ग हैं, यही पर पौरुष जाना जायगा, जो यदि लगाम को नही मोडता ॥४॥

भुवन भयकर, शकर को तुष्ट करने वाला, रावण, श्रेष्ठरथ पर चढकर निकला। मानो विधाता ने चारमुख (ब्रह्मा) और छ मुख (कार्तिकेय) का ध्यान कर और उन्हे एक मे लाकर उसको (रावण की) रचना की हो ॥५॥

हे सखी अगलित स्नेहवालो का जो स्नेह है लाख योजन जाने और सौ वर्षो मे भी मिलने पर भी वह, सौख्य का स्थान है ॥६॥

अग से अग नही मिले, और न अधर से अधर। प्रिय का मुह कमल जोहती हुई उसका सुरत यो ही समाप्त हो गया ॥७॥

प्रवास पर जाते हुए प्रिय ने मुझे जो दिन (अवधि के) दिए, नख से उन्हे गिनते हुए, मेरी उगलिया जर्जरित हो गई ॥८॥

सागर तृणो को ऊपर रखता है और रत्नो को तल मे। स्वामी सुभृत्य को तो छोड देता है और खल का आदर करता है ॥९॥

गुणो से सम्पत्ति नही कीर्ति मिलती है, (लोग) लिखित फल ही भोगते है। सिह एक कौडी भी नहीं पाता, जब कि हाथी लाखो मे खरीदे जाते है ॥१०॥

जन, वृक्ष से फलो को ग्रहण करता है और कडवे पल्लव छोड देता है, तो भी सज्जन की तरह, महावृक्ष, उन्हे अक मे धारण करते है ॥११॥

दूर स्थान से पतित भी खल जन, अपने ही जन की घात

करता है, जिस प्रकार गिरिशिखर से गिरि हुई शिला अन्य शिलाओं को भी चूर चूर कर देती है ॥१२॥

जो अपने गुण छिपाता है और दूसरे के प्रकट करता है, कलयुग में दुर्लभ, उस सज्जन की मै बलि जाता हूं ॥१३॥

अवटतट मे रहनेवाले तृणो की तीसरी गति नही, या तो जन उनसे लगकर उतरते है या वे उनके साथ ही डूब जाते है ॥१४॥

दैव, वन मे पक्षियो के लिए जो वृक्षो के पके फल गढ़ता है, वह उत्तम सुख है, पर कानो मे दुर्जन के वचनो का प्रवेश सुखद नही ॥१५॥

धवल (धौरा बैल), स्वामी का गुरुभार देखकर विसूर रहा है कि दो टुकडे करके मुझे ही दोनो ओर क्यो नही जोत दिया ॥ १६ ॥

गिरि से शिलातल और वृक्ष से फल नियम से ग्रहण किए जाते है, तब भी मनुष्यो को घर छोड़कर वन नही रुचता ॥ १७ ॥

वृक्षो से वक्कल और फल का परिधान तथा भोजन, मुनि भी पाते है, स्वामियो से इतना ही अधिक है कि उनसे भृत्य आदर ग्रहण करते है ॥ १८ ॥

जग मे आग से उष्णता और उसी तरह वायु से शीतलता होती है, यदि जो आग से शीतलता होने लगे तो उष्णता कैसे होगी ॥ १६ ॥

यद्यपि प्रिय विप्रिय करनेवाला है, तो भी उसे आज लाओ। यद्यपि आग से घर जल जाता है तो भी उससे से काम लिया ही जाता है ॥ २० ॥

सांवली, ज्यो ज्यो निश्चितरूप से नेत्रों को वांकापन सिखाती है

त्यों त्यों कामदेव अपने बाणों को खरेपत्थर पर तीखा करता है ॥ २१ ॥

देखो, सो सौ युद्धों में, हमारा कांत, अतिमत्त त्यक्तांकुश गजों के गंडस्थलों को विदीर्ण करता हुआ, वर्णित किया जाता है ॥ २२ ॥

हे तरुणिओ, मेरा विचार कर अपना घात मत करो ॥ २३ ॥

भागीरथी की तरह भारती भी तीन मार्गों से प्रवर्तित होती है। [भागीरथी स्वर्ग मर्त्य पाताल से, और भारती, वैदर्भी गौडी और पांचाली, इन रीतियों से] ॥ २४ ॥

सर्वाङ्ग सुंदर विलासीनियों को देखते हुए ॥ २५ ॥

अपनी मुखकिरणों से मुग्धा, अंधेरे में भी हाथ देख लेती है। तो फिर शशिमंडल की चॉदनी में दूर तक कैसे नहीं देखती ॥ २६ ॥

दूती नायक से कह रही है—

हे तुच्छराय? उसका [नायिका का] मध्यभाग तुच्छ है उसका बोलना भी तुच्छ (धीमा) है, उसकी रोमावली हलकी और अच्छी है, उसकी हँसी भी मंद है, उसकी तुच्छकाय में कामदेव का निवास है, प्रियवचन को नहीं पानेवाली उसका जो अन्य भाग भी तुच्छ है वह कहते नहीं बनता, आश्चर्य है कि उस मुग्धा के स्तनों का अंतर इतना थोडा है कि उनके मार्ग में मनतक नहीं समाता ॥ २७ ॥

हे बहिन अच्छा हुआ, जो हमारा कंत मारा गया। यदि वह भागकर घर आता, तो मैं सखियों के द्वारा लज्जित होती ॥ २८ ॥

वायस उड़ाती हुई (प्रिया) ने सहसा प्रिय को देखा,

उसकी, आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गईं, और आधी तड़ तड़ होकर फूट गईं ॥ २६ ॥

भ्रमर समूह कमल को छोड़कर हाथियों के गडस्थल की सेवा करते है। जिनको असुलभ की इच्छा का हठ है वे दूर को नहीं गिनते ॥ ३० ॥

अपनी सेना को भग्न और शत्रु की सेना को प्रसारित देखकर. प्रिय के हाथ मे तलवार, शशिरेखा की तरह चमक उठती है ॥ ३१ ॥

यदि तिलके समान तारावाली उसका मुझ से स्नेह टूट गया है, और कुछ भी शेष नहीं है, तो फिर क्यो उसके द्वारा तिरछे नेत्रों से सौ वार देखा जाता हूँ ॥ ३२ ॥

जहाँ सर से सर काटा जाता है और खड्ग से खड्ग छेदा जाता है, वहाँ उस भटघटासमूह मे, कत मार्ग-प्रकाशन करता है ॥ ३३ ॥

वियोगवर्णन—

उस मुग्धा की एक आँख मे सॉवन, और दूसरी मे भादों, महीतल के संस्तर में माधव, कपोलो मे शरद्, अगो मे ग्रीष्म, सुखासिकारूपी तिलवन मे अगहन और मुखकमल मे शिशिर का आवास है ॥ ३४-३५ ॥

हृदय तड़क कर फूट जाओ, कालक्षेप करने से क्या? देखूं, हतविधि तुम्हारे विना, दुखशतो को कहाँ रखता है ॥ ३६ ॥

हला सखी! हमारा कत जिसपर रूठ जाता है, अस्त्र शस्त्र और हाथों से उसके ठाव को भी नष्ट भ्रष्ट कर डालता है ॥ ३७ ॥

जीवन किसे प्यारा नहीं होता, और धन किसे इष्ट नहो

होता, पर अवसर आने पर, विशिष्टजन दोनो को तृणसम गिनता है ॥ ३८ ॥

नाथ, जो आगन मे बैठता है, सो वह रण मे भ्राति नहीं करता ॥ ३६ ॥

यह कुमारी है, यह नर है और यह मनोरथो का स्थान है, ऐसा सोचते-सोचते मूर्खो का, अत मे सवेरा हो जाता है ॥ ४० ॥

यदि तुम वडा घर पूछते हो तो, बडे घर वे है। विकलितजनो का उद्धार करनेवाले कत को कुटीर मे देखो ॥ ४१ ॥

लोगो के इन नेत्रो को जाति स्मरण है इसमे सदेह नही, क्योकि वे अप्रिय को देखकर मुकुलित होते है और प्रिय को देखकर विकसित ॥ ४२ ॥

चाहे समुद्र सूखे या न सूखे, वडवानल को इससे क्या, आग जो जल मे जलती है क्या यह पर्याप्त नही है ॥ ४३ ॥

इस दग्धशरीर से जो कुछ भी पाया जाय वही सार है, यदि उसे ढका जाय तो सडता है, और यदि जलाया जाय तो छार छार होता है ॥ ४४ ॥

सभी लोग बडप्पन के लिए तडफडाते है पर बडप्पन मुक्तहस्त देने से ही प्राप्त किया जाता है ॥ ४५ ॥

नायिका दूती पर व्यग कर रही है—

हे दूती ! यदि वह घर नही आता है, तो तुम्हारा मुँह नीचा क्यो है, हे सखी जो तुम्हारे वचन को खडित करता है, वह हमारा भी प्रिय नही। [यहाँ 'वयणु' मे श्लेष है, वदन और वचन] ॥ ४६ ॥

कहो, किस कार्य से सुपुरुष कङ्गुलता का अनुकरण करते हैं, ज्यो ज्यो वे बडप्पन पाते है, त्यो त्यो शिर झुकाते जाते है ॥४७॥

यदि वह स्नेहवती है तो मर गई, अथवा जीती है तो स्नेह-विहीन है, दोनों प्रकार से प्रिया चली गई, हे दुष्ट मेघ ? अब क्यो गरजते हो ॥४८॥

हे भ्रमर, अरण्य मे रुनझुन मत करो, और उस दिशा को देखकर रोओ मत, वह मालती देशांतरित हो गई है जिसके वियोग मे तुम मरते हो ॥४९॥

हे वरतरु, तुम्हारे द्वारा मुक्त पत्तो का पत्तापन नष्ट नही होता, पर यदि तुम्हारी छाया, किसी तरह होगी, तो उन्ही पत्तो के द्वारा ॥ ५० ॥

मेरा हृदय, तुम्हारे द्वारा, उसके द्वारा, तुम, और वह भी अन्य के द्वारा, विडम्बित की जाती है। प्रिय ! क्या मै करू और क्या तुम करो। मछली मछली के द्वारा खाई जाती है ॥५१॥

तुम और हम दोनो के रण मे जाने पर, जयश्री की तर्कणा कौन करता है ? कहो, यमस्त्री के वाल खीच कर कौन सुख से रह सकता है ॥५२॥

तुम्हारे छोडने पर मेरा और मेरे छोड़ने पर तुम्हारा, मरण (निश्चित) है, हे सारस (प्रिय के लिए संबोधन) जिसका जो दूर है, वही कृतांत का साध्य है ॥५३॥

तुमने और हमने जो किया, वह वहुत लोगो ने देखा। वह उतना वड़ा रणभार, एक क्षण मे जीत लिया ॥५४॥

तुम्हारी गुण-सम्पत्ति, तुम्हारी मति और लोकोत्तर शांति, यदि अन्यजन महिमंडल मे उत्पन्न होकर सीखे, (तो ठीक है) ॥५५॥

हम थोड़े है और शत्रु वहुत है, ऐसा कायर ही कहते है। हे मुग्धे ! देखो, गगनतल मे कितने जन, प्रकाश करते है ॥५६॥

अपनापन लगाकर जो पथिक पराये से चले गए है, वे भी अवश्य सुख से नहीं सोते जैसे हम तैसे वे ॥५७॥

मैंने समझा था कि प्रिय-विरहिताओ को रात मे कुछ आसरा होगा, पर यह चद्रमा उस प्रकार तपता है जिसप्रकार क्षयकाल मे दिनकर ॥५८॥

हे सखी, झूठ मत बोलो, मेरे कत के दो दोप है—एक तो, देते हुए मै ही वचती हू, और दूसरे, युद्ध करते हुए करवाल ॥५९॥

यदि परकीय सेना भग्न हुई, तो हे सखी, मेरे प्रिय के द्वारा, और यदि हमारी सेना भग्न हुई, तो उसके मारे जाने पर ही ॥६०॥

उसका मुख और कबरीवध ऐसे सोहते है मानो शशि और राहू मल्लयुद्ध कर रहे है। भ्रमर समूह से तुलित उसके कुटिल केश ऐसे सोहते है मानो तिमिर के बच्चे मिलकर खेल रहे है ॥६१॥

हे पपीहे, पिउ पिउ कहकर और हताश होकर कितना ही रोओ? पर तुम्हारी जल मे और हमारी वल्लभ मे, दोनो की आशा पूरी नहीं होती ॥६२॥

हे पपीहे, वार वार निर्घिण बोलने से क्या, विमल जल स सागर भर गया, फिर भी, एक भी धार नहीं मिली ॥६३॥

इस जन्म मे और दूसरे जन्म मे भी, हे गौरी! मुझे ऐसा पति दो जो त्यक्ताकुश मत्तगजो का हसते हसते पीछा करता है।

वलि से अभ्यर्थना करने पर वह विष्णु भी छोटे हो गए, यदि बड़प्पन चाहते हो तो किसी से मागो मत ॥६५॥

चाहे विधि रुठ जाय और चाहे ग्रह पीड़ित करे। हे धन्ये, तुम विपाद मत करो, यदि व्यवसाय बढ़ जाय, तो मै वैश्य की तरह शीघ्र ही सम्पत्ति को काढ़ूगा ॥६६॥

हे प्रिय जहां खड्ग का साधन मिले उस देश को चले यहां रण-दुर्भिक्ष से हम लोग भग्न हुए है युद्ध के बिना नही लौटेगे । [जैसे दुर्भिक्ष के कारण भागे लोग, सुभिक्ष के बिना नही लौटते] ॥६७॥

हे कुंजर ? सल्लकी का स्मरण मत कर, ठडी सांस मत छोड़, विधि के वश से, जो ग्रास मिले, वही खा ले, पर मान मत छोड़ ॥६८॥

हे भ्रमर ? कुछ दिन यहां इस नीम मे विलम्ब कर लो, जब तक घने पत्तोवाले और छायाबहुल कदम्ब नही फूलते ।

हे प्रिय ? करवाल छोडकर तुम यह सेल हाथ मे ले लो, जिससे बेचारे कापालिको को अभग्न कपाल मिले ॥७०॥

दिन झटपट चले जाते है, मनोरथ पीछे पड़ जाते है । जो है उसी को मान, 'होगा' यह करता हुआ मत बैठ ॥७१॥

जो वर्तमान भोग का परिहार करता है, उस कंत की बलि-हारी कीजिए । जिसका सिर गजा है, उसे तो विधाता ने ही मूड दिया ॥७२॥

स्तनो का जो अत्यधिक ऊचापन हे, वह हानि ही है लाभ नही । हे सखी, नाथ, किसी तरह, त्रुटिवश, अधर तक पहुच पाता है ॥७३॥

यह कहकर शकुनि ठहरा, पुन दु.शासन बोला—तो मै जानू कि यह हरि है—यदि (यह) मेरे आगे बोले ॥७४॥

जिस किसी तरह तीखी किरणें लाकर यदि शशि को छोला जाय तो वह जग मे, गोरी के मुखकमल की कुछ समानता पा सकता है ॥७५॥

श्वासानल की ज्वाला से संतप्त और बाष्पजल से ससक्त होकर मुग्धा के कपोल पर रखी हुई चूडी चूर चूर हो जायगी ॥७६॥

(अभिसारिका) जब तक दो पैग चलकर प्रेम निवाहती है तब तक चंद्रमा की किरणें फैल गई। [सर्वाशन, आग का नाम है, उसका शत्रु समुद्र है और समुद्र का पुत्र चद्रमा। 'अव्भड-वचिउ' एक पद है] ॥७७॥

हे अम्मा, पयोधर वज्र से है जो नित्य मेरे उस कात के सामने खडे रहते हैं जिससे युद्धक्षेत्र मे गजघटा भाग जाती है ॥ ७६ ॥

हृदय मे गोरी खटकती है और आकाश में मेघ घुड़क रहे हैं। वर्षा की रात मे प्रवासियो के लिए यह विषम संकट है ॥७८॥

उस पुत्र के होने से क्या लाभ और मरने से क्या हानि है, जिसके वाप की भूमि दूसरे के द्वारा चाप ली जाय ॥८०॥

सागर का उतना ही जल है और उतना ही विस्तार है, पर तृषा का निवारण एक पल भी नहीं होता फिर भी वह व्यर्थ गरजता है ॥८१॥

असतियो ने चद्रग्रहण देखकर उसका उपहास किया—हे राहू, प्रियजनो को विक्षोभ करने वाले उस मयक को ग्रस लो ॥८२॥

हे अम्मा ? स्वस्थावस्था मे सुख से मान की चिंता की जाती है, प्रिय को देखने पर हडवडी से अपनी सुध कौन रख सकता है ॥ ८३ ॥

शपथ करके मैंने कहा कि उसी का जन्म अत्यन्त सफल है, जिसका त्याग, वीरता, नय और धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ ॥८४॥

यदि प्रिय को किसी प्रकार पाऊ तो अकृत आश्चर्य करूगी। नये सकोरे मे पानी की तरह, उसके सर्वांग मे व्याप्त हो जाऊगी ॥८५॥

देखो स्वर्णिम कातिवाला कनेर प्रफुल्लित है, मानो गोरी के मुख से पराजित होकर वह वनवास का सेवन कर रहा है ॥८६॥

व्यास महाऋषि यह कहते हैं कि यदि श्रुति और शास्त्र

प्रमाण हैं तो माता के चरणों मे नमस्कार करने वालो का प्रति दिन गगा स्नान होता है ॥ ८७ ॥

दुष्ट दिन किस प्रकार विताऊ और किस प्रकार रात जल्दी हो, नववधु के दर्शन की लालसा से वह [विविध] मनोरथ कर रहा है ॥ ८८ ॥

अरे, गोरी के मुख से पराजित चंद्रमा जब बादलो मे छिप गया तो जो अन्य पराभूत-तनु है वह कैसे निसंक घूम सकता है ॥ ८९ ॥

हे आनंद ! तन्वी के बिम्बाधर पर स्थित दन्तक्षत ऐसा जान पड़ता है, मानो प्रिय ने निरुपम रस पीकर शेप पर मुद्रा लगा दी है ॥ ९० ॥

हे सखी यदि प्रिय मेरे विषय में सदोष हों, तो मुझसे एकान्त मे कहो जिससे वह यह न जाने कि मेरा मन उसमे अनुराग रखता है ॥ ९१ ॥

हे बलिराज, मैंने तो (शुक्राचार्य ने) तुमसे कहा ही था कि यह कैसा मांगनेवाला है, हे मूर्ख, यह ऐसा वैसा आदमी नही है, यह स्वयं नारायण है ॥ ९२ ॥

यदि वह प्रजापति कहीं से भी शिक्षा लेकर निर्माण करता है, तो इस जग मे जहाँ कही भी उसकी समानता (उसके समान सुंदर) बताओ ॥ ९३ ॥

जब तक कुभतटों पर सिंह की चपेट की मार नहीं पडती तब तक मदवाले गजों की चिग्घाड़ पद पद पर हो रही है ॥ ९४ ॥

तिलों का तिलपन तभी तक है जब तक स्नेह (तेल) नही गलता, नेह नष्ट होने पर वे ही तिल, ध्वस्त होकर खल हो जाते हैं ॥ ९५ ॥

जब जीवो की विषम कार्यगति आती है, तब दूसरों की तो बात क्या, स्वजन भी किनाराकशी कर लेता है ॥ ९६ ॥

परस्पर लड़ते हुए जिनका स्वामी पराजित हो गया, उनके लिए परोसे गए मृग व्यर्थ हैं। [मृग परोसना, चौरना के लिए आदर सूचक मुहावरा है] ॥ ९७ ॥

हे भगवन् वे मनुष्य विरल हैं जो सर्वाङ्ग उज्ज्वल होते हैं, जो कुटिल हैं वे वंचक हैं, जो ऋजु हैं वे बैल हैं ॥ ९८ ॥

वे दीर्घ नेत्र और ही हैं वह भुजयुगल भी और है। धन्या का स्तनभार भी अन्य है और वह मुख कमल भी अन्य है ॥ ९९ ॥

केश कलाप भी अन्य है प्राय वह विधाता ही अन्य है जिसने गुणलावण्यनिधि उस नितम्बिनी का निर्माण किया ॥१००॥

प्राय मुनियों को भी भ्रान्ति है, वे मनका गिनते रहते हैं और अक्षय, निरामय परमपद में आज भी लौ नहीं लगाते ॥१०१॥

हे सखी उस गोरी के नयनसर स्वच्छ अश्रुजल से बुझे हुए हैं, इसलिए सन्मुख समर्पित होकर भी, वे तिरछी घात करते हैं ॥१०२॥

प्रिय आयगा, मैं रूठूँगी, रूठी हुई मुझे वह मनाएगा। प्राय इन मनोरथों को दुष्कर देव रचाता है ? ॥१०३॥

विरहानल की ज्वाला से करालित कोई पथिक डूबकर (जल में) स्थित है, अन्यथा शिशिरकाल में शीतल जल से धुआँ कहाँ से उठा ? ॥१०४॥

गोष्ठी में स्थित मेरे कंत के झोंपड़े कैसे जल रहे हैं। या तो वह शत्रु के रक्त से या फिर अपने रक्त से उन्हें बुझाएगा इसमें भ्रांति नहीं ॥१०५॥

प्रिय के साथ नींद कहाँ, और प्रिय के परोक्ष में भी नींद कहाँ, मैं दोनों तरह नष्ट हुई, नींद न यों न त्यों ? ॥१०६॥

कंत की जो सिंह से उपमा दी जाती है, उससे मेरा मान खंडित होता है, क्योंकि सिंह अरक्षित हाथी को मारता है और प्रिय पदरक्षकों समेत, मारता है ॥१०७॥

जीवन चचल है, मरण निश्चित है, हे प्रिय क्यो रूठा जाय, रूठने से दिन, दिव्य वर्ष शत हो जॉयगे ॥१०८॥

मान नष्ट होने पर यदि शरीर न छूटे तो देश छोड़ देना चाहिए ? दुर्जनो के करपल्लवो द्वारा दिखाए जाते हुए मत घूमो ॥१०९॥

पानी से नमक (लावण्य) विलीन हो जाता है, अरे दुष्ट मेख गर्ज मत, मोड़कर बनाया हुआ मेरा सुन्दर झोपड़ा गलता होगा और मेरी गोरी भीगती होगी। [वालिउ का अर्थ मोड़ा हुआ होता है अबतक इसका ज्वालित अर्थ किया गया है, पर यह ठीक नही जान पड़ता क्योकि ज्वालित का जालिउ रूप होता है, वालिउ नही] ॥११०॥

(मेरा प्रिय) वैभव नष्ट होने पर वॉका और ऋद्धि के समय साधारण रूप से रहता है। शशि ही थोड़ा बहुत मेरे प्रिय की समानता कर सकता है, अन्य नही, ॥१११॥

न खाता है, न पीता है, न दूर करता है और न धर्म मे भी एक रुपया व्यय करता है, वह मूर्ख कृपण नही जानता कि एक क्षण मे यम का दूत आ पहुँचेगा ॥११२॥

उस देश को जाया जाय और प्रिय का पता लगाया जाय, यदि वह आवे तो उसे लाया जाय अथवा वही प्राण-विसर्जन किया जाय ? ॥११३॥

जो प्रवास करते हुए उसके (प्रिय के) साथ नही गई, और न उसके वियोग में मरी, उस सुभगजन को सदेश देते हुए, अब मै लज्जित होती हूँ ॥ ११४॥

इधर से मेघ पानी पीते है, और इधर से वडवानल जल शोषित करता है, फिर भी सागर की गम्भीरता देखो उसकी एक भी बूँद नहीं घटती ? ॥११५॥

जाओ, जाते हुए को नहीं रोकती। देखूं कितने पैर देते हो। हृदय मे मै ही तिरछी अड़ी हूं, फिर भी प्रिय आडम्बर करता है ॥११६॥

हरि, प्रांगण मे नचाए गए। लोग आश्चर्य मे पड़ गए। इस समय राधा के पयोधरो को जो रुचता है वही होता है ॥११७॥

वह सर्वांगसलोनी गोरी, कोई नई ही विष की गाठ है, जो भट उसके गले नही लगता वह मारा जाता है ॥११८॥

मैने कहा तुम जुए को रक्खो, हम अधम बैलो से परेशान है, हे धवल, तुम्हारे बिना भार नहीं चढ़ता, इस समय तुम विषण्ण क्यो हो ? ॥११६॥

एक तो कभी नही आता, दूसरा आता है पर शीघ्र चला जाता है। हे मित्र मैने यही प्रमाणित किया कि निश्चय ही तुम्हारे जैसा दूसरा नही ॥१२०॥

जिस तरह सत्पुरुष है, उसी प्रकार झगड़े हैं, जिस तरह नदी है, उसी प्रकार घुमाव है, जिस प्रकार पहाड़ है उसी प्रकार कोटर है- हे हृदय क्यो विसूरते हो ॥१२१॥

जो रत्ननिधि को छोड़कर अपने को तट पर फेकते है, नीच, उन शंखो को फूकते हुए घूमते है, ॥१२२॥

प्रतिदिन कमाया हुआ खा, एक भी पैसा मत जोड। हे मूर्ख ! कोई भी ऐसा भय आ पड़ेगा, जो जीवन ही समाप्त करदेगा ॥१२३॥

यद्यपि कृष्ण, सर्वादर से एक एक गोपी को अच्छी तरह जोहते है, तो भी जहाकहीं राधा हैं, वहा स्नेहसिक्त और दग्धनयना उनकी दृष्टि को कौन रोक सकता है ? ॥१२४॥

वैभव मे किसकी थिरता और यौवन मे किसका अहकार, वही लेख भेजा जाता है जो खूब नीचट लगता है ॥१२५॥

कहां चंद्रमा और कहां समुद्र, कहां मोर और कहां मेघ, दूरस्थित भी सज्जनो का असाधारण स्नेह होता है ॥१२६॥

हाथी दूसरे वृक्षो पर कौतुक से ही सूंड़ को घालता है। यदि सच पूछो तो उसका मन एक अकेली सल्लकी मे है ॥१२७॥

हमने खेल किया है। निश्चय क्या है कहिए ? हे स्वामी ! अनुरक्त हम भक्तो को, मत छोड़िए ? ॥१२८॥

नदी सर, सरोवर, और उद्यान वनो से देश सुंदर नही होते। किन्तु हे मूर्ख ? सज्जनों के निवास से ही देश रमणीय होते है ॥१२९॥

हे अद्भुतसार भाण्डहृदय ! पहले तुमने मेरे आगे सौ बार यह कहा था कि प्रिय के प्रवास करने पर मै फट जाऊगा ? ॥१३०॥

एक शरीर रूपी कुटी है जो पाच से (इद्रियो से) अवरुद्ध है, और उन पांचो की अपनी अपनी वुद्धि है, हे वहिन, कहो वह घर कैसे सुखी हो, जहा कुटुम्बीजन स्वछंद स्वभाव के है ॥१३१॥

जो पुन. मन मे ही फुसफुसाता हुआ चिंता करता है। न दमड़ी देता है और न रुपया, वह मूर्ख रतिवश भ्रमण करता है और कराग्र से उल्लालित भाले को घर मे ही गुनता रहता है ॥१३२॥

हे वाले, चंचल और चलते हुए नेत्रो से, तुमने जिनको देखा, उनके ऊपर अकाल मे ही, कामदेव ने शीघ्र, आक्रमण कर दिया ॥ १३३ ॥

जिसकी हुंकार के कारण, (तुम्हारे) मुँह से तिनके गिर पड़ते थे, वह केसरी चला गया है, हे हिरणो ? अब निश्चिन्त होकर पानी पिओ ? ॥१३४॥

स्वस्थावस्था वालो से सम्भाषण सभी लोग करते है, पर आर्त जनो को 'डरो मत' यह वचन वही देता है जो सज्जन है, ॥१३५॥

हे मुग्ध स्वभाव हृदय ? यदि तुम जो जो देखते हो उसी मे रमते हो, तो कूटे जाते हुए लोहे की तरह घना ताप सहोगे ॥१३६॥

मैने जाना था कि मै प्रेमसमुद्र मे हहर कर डूबूगी। नही किंतु शीघ्र ही, अचिंतित विप्रियरूपी नाव आ पहुची ॥१३७॥

न तो कसर कसर कर खाया जाता है और न घूँट-घूँट से पिया जाता है, नेत्रो से प्रिय को देखने पर ऐसी ही सुखदस्थिति होती है ॥१३८॥

आज भी हमारा स्वामी घर पर सिद्धो की वदना कर रहा है, तो भी विरह, गवाक्षो से वदरघुडकी देता ॥१३९॥

सिर पर विशीर्ण करबल, और गले मे वीस मनका भी नही हैं, तो भी मुग्धा के द्वारा गोष्ठ मे (युवको से) उठावैठक करवाई जाती है ॥१४०॥

हे अम्मा मुझे पछतावा है कि रात मे प्रिय से कलह की। विनाशकाल मे बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥१४१॥

हे प्रिय, कहो ऐसा परिहास किस देश मे होता है, मै तो तुम्हारे लिए झीज रही हूँ और तुम दूसरे के लिए ॥१४२॥

उसी प्रिय का स्मरण किया जाय जो थोडा ही विसरता है जिसका पुन: स्मरण होकर चला जाय उससे नेह का क्या नाम ॥१४३॥

नायक जिह्वेन्द्रिय को वश मे करो, जिसके अधीन अन्य इन्द्रिया हैं, तूवी का मूल नष्ट होने पर, पत्ते अवश्य सूख जाते है ॥१४४॥

एक वार शील कलकितकरनेवाले को प्रायश्चित दिये जाते हैं पर जो रोज रोज शील को खडित करता है उसको क्या प्रायश्चित ?॥१४४॥

विरहाग्नि की ज्वाला से कराल, जो पथिक मार्ग मे दीख पडा उसको सव पथिको ने मिलकर अग्निस्थ कर दिया ॥१४६॥

स्वामी का प्रसाद (कृपा), प्रिय की लज्जाशीलता '

सीमान्तप्रदेश का वास और पति का बाहूबल में गर्व देखकर धन्या ठंडी सांसे छोड़ रही है ॥१४७॥

पथिक, (तुमने) गोरी देखी, हां—मार्ग को देखती हुई और आसू तथा उछ्वासो से चोली को गीली और सूखी करती हुई, उसे मैंने देखा ॥१४८॥

प्रिय आया इस शुभ वात की ध्वनि जब कान में प्रविष्ट हुई, तब ध्वस्त होते हुए उस विरह की धूल भी नही दिखी ॥१४९॥

हे प्रिय ! तुम्हारे सदेश से क्या जो साथ नही मिला जाता, स्वप्न में पिए पानी से क्या प्यास बुझती है ? ॥१५०॥

यहाँ वहाँ, घर द्वार में, लक्ष्मी, विसंस्थुल होकर दौड़ती है प्रिय से भ्रष्ट होकर गोरी कहीं भी निश्चित नही बैठती ॥१५१॥

कोई सिद्ध पुरुष द्रव्य के बदले मे किसी स्त्री का पति बलि के लिये चाहता है। स्त्री उससे कहती है—

यह ग्रहण करके जो मै अपने प्रिय को छोड़ दूँ तो मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं, केवल मुझे मरने दिया जाय ? ॥१५२॥

लोक मे जो देश त्याग, आग मे कढ़ना और घन से पिटना है, वह सब, अतिरक्त मजीठ के द्वारा ही सहने योग्य है [यहाँ पर अतिरक्त का प्रेमी अर्थ भी गृहीत है] ॥१५३॥

हे हृदय, यदि शत्रु बहुत है तो क्या हम आकाश मे चढ़ जायँ, यदि हमारे भी दो हाथ है, तो मारकर मरेगे ॥१५४॥

वह, विप (जल) लानेवाले उन दोनों हाथो को चूमकर अपना जीव रखती है, जिन हाथो के द्वारा प्रतिविम्बित मूँजवाला, जल, उसने प्रिय को पिलाया था ॥१५५॥

हे मुज ! वॉह छुड़ाकर जाते हो, इसमे क्या दोप। हृदय मे स्थित यदि निकल जाओ तो मै जानूं कि तुम रुष्ट हो ॥१५६॥

अशेप कपाय बल को जीतकर, जग को अभय देकर, महाव्रत

ग्रहण कर और तत्त्व का ध्यानकर शिव प्राप्त करते है ॥१५७॥

अपना धन देना दुष्कर है, तप करना भी नहीं भाता, यों सुख भोगने का मन है पर भोगा नहीं जाता ॥१५८॥

जीतना, त्यागना, समस्त धरती को लेना, तप पालना, बिना शांतिनाथ तीर्थंकर के विश्व मे कौन कर सकता है ॥१५९॥

वाणारसी जाकर, अथवा उज्जयिनी जाकर जो मरते हैं वे परमपद पाते हैं, दिव्यान्तर की तो बात ही क्या ॥१६०॥

गंगा जाकर, या शिवतीर्थ जाकर जो मरता है वह यमलोक को जीतकर और स्वर्ग मे जाकर क्रीडा करता है ॥१६१॥

रवि अस्त होने पर घबड़ाए हुए भौरे ने, मृणाल के खंड को कंठ मे रख लिया, उसे काटा भी नही, मानो [वियोग मे] जीवार्गल दिया हो ॥१६२॥

वलयावलि के गिरने के भय से धन्या ऊँची बाँह करके जा रही है, मानो प्रिय के वियोगसमुद्र की थाह खोज रही हो ॥१६३॥

जिनवर का दीर्घनेत्रवाला और सलोना मुख देखकर, मानो गुरुमत्सर से भरकर, नमक, आग मे प्रवेश करता है ॥१६४॥

हे सखी! चम्पककुसुम के बीच मे भौरा बैठा है, मानो स्वर्ण पर स्थित इन्द्रनीलमणि सोहता हो ॥१६५॥

बादल पहाड से लग रहे है और पथिक यह रटता हुआ जाता है कि जो मेघ, गिरि को भी लील लेने का मन रखते है वे धन्या पर क्या दया करेंगे? ॥१६६॥

आँते पैरो मे लग गई है और सिर कंधे पर झुक गया है, तो भी हाथ कटार पर हैं, मै कंत की बलि जाती हूँ ॥१६७॥

पक्षी सिर पर चढ़कर फल खाते है और फिर डालो को मोडते भी है। तो भी महावृक्ष उनको अपराधी नही मानते ॥१६८॥

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
राजभाषा	राष्ट्रभाषा	३	२४
तद्भव	तद्भव	६	१०
नामिसाधु	नमिसाधु	१२	११
—भारत	—भारत में	१७	१४
कि थै	किथै	२०	१
सी	से	२०	१०
माथा	गाथा	२०	१५
छोरका तुटउ	छोटउ तुरका	२१	१६
साहित्य सृष्टि में	साहित्य की सृष्टि	२१	२४
जति	जनि	२७	४
वाट्य	वाटय	२७	६
वाटय रहु	वाटय रहय	२७	१६
भविसत्त	भविसयत्त	३०	६
उ	ऊ	३७	८
ज को · 'य होता है	य को · 'ज होता है	३८	१
श्म	ष्म	३६	२
देश	देश=देस	४०	२४
सम्प्रदान	सम्प्रदान	४७	१४
इकारान्त	ईकारान्त	४८	६
क्म	कर्म	५६	१
द्वितीय पुरुष	मध्यम पुरुष	५८	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
प्रथम पुरुष	उत्तम पुरुष	५८	१२
सामन रूप	समान रूप	५९	२
सब	सर्व	५९	७
तुम्हारा	तुम्हार	६१	१३
स्वर्ग	दिन	६६	४
खाई	खाइ	६६	६
सऊणाहं	सउणाहं	७१	२४
लालित्यत्या	लालित्या	८७	२
प्रकृत	प्राकृत	८८	३
प्रयुत	प्रयुक्त	८९	१३
आगे	आदि	८९	२०
-मे कर्तरि-	-मे कई जगह कर्तरि-	९३	१४
पयार	पयारेहि	११७	५
अब्भत्थिमि	अब्भत्थिम्मि	,,	६
णिसमाहि	णिसम्महि	,,	८
सरस	सरसे	,,	,,
चयण	चयणे	,,	८
दुज्जवु	दुज्जणु	११८	११
णिसोणि	णिसेणि	,,	२१
वसणासत्त	वसणासत्त	११९	३
उज्मत	उज्झत	,,	४
एह	एहु	,,	११
सज्जमि	सज्जमि	,,	२१
खड	खउ	१२०	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
जलवाहिणी	जलवाहिणि	१२०	२०
णग्वरु	णरवरु	१२१	२
मतिमतिविहि	मति मंतविहि	,,	७
माइग्रउ	माइयउ	,,	१७
भामाखुरु	भाभाखुरु	,,	१८
पगहि	पासेहि	,,	२१
लोवति	लोट्टति	१२२	१
तस्य	तस्स	,,	३
हणिक्क	हणणिक्क	,,	५
दुव्वयण्ण	दुव्वयण	,,	६
तुरिडउ	तुरिउ	,,	८
उत्तस्य	उत्तस्स	,,	१०
णाडिउ	णडिउ	,,	१२
रुवेण	रुवेण	,,	१३
दिएणावाहु	दिएणवाहु	,,	१५
घणगिहरसद्दु	घणगहिरसद्दु	,,	१८
णउथमनइ	ण उवसमइ	१२३	७
गोवज्जिएणि	गोवज्जिएहि	१२३	१७
वरकइणि दिज्जइ	वरकइ णिदिज्जइ	,,	२०
परिमहोउ	परिस्म होउ	,,	२२
उच्छुव णइ	उच्छुवणाइं	१२४	१२
णादिरु	णादिरु	१२४	१७
ण	ण	,,	१६
विंभरिय	विभरिय	,,	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
लुचणु	लुंचणु	१२५	५
ह्लिक	ह्लिक्क	,,	५
टकइ	ढकइ	,,	६
शरीर	सरीर	,,	१२
ण	णं	,,	१८
तृपहि	तृयहि	,,	१६
अवलवि	अवलवि	,,	२३
गाप्पऐण	गोप्पएण	१२६	५
मासिज्जइ	माणिज्जइ	,,	,,
छुड	छुडु	,,	१७
धरिपइ	धरियइं	,,	२०
आसरवार	आसवार	१२७	१
कुलपर	कुलयर	,,	१४
कि	कि	,,	१६
विहरतरिय	विहुरतरिय	,,	२३
पुणरावि	पुण रणि	,,	२४
सान्तिउ	सोत्तिउ	१२८	१०
णिज्जिलेण	णिज्जलेण	,,	१३
तरुण	तरुणा	,,	१३
ज्भु	मज्भु	,,	१८
मग्गु	भग्गु	,,	,,
स	ण	,,	२२
रिउं सउहु	रिउ सउहुं	१२६	१३
तोणी-रज	तोणीर-जुयलु	,,	१५